हिन्दी गद्य गरिमा

संपादक
रणधीर उपाध्याय

हिन्दी गद्य गरिमा

संपादक

रणधीर उपाध्याय, एम. ए., साहित्यरत्न
प्राध्यापक और अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, एल. डी. आर्ट्स कॉलेज
तथा
एम. जी. साइन्स इन्स्टिटट्यूट, अहमदाबाद-९



मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड
१९५७

रु० १·९० नये पैसे

मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड
लन्दन बम्बई कलकत्ता मद्रास मेलबोर्न
द मैकमिलन कम्पनी ऑफ़ कैनाडा लिमिटेड
टोरांटो
सेंट मार्टिन्स प्रेस इन्क्०
न्यूयार्क

भारत में निर्मित।
ब्रूस पेज द्वारा आइ. एस. एस. डी. प्रेस, ९५ बी, चित्तरंजन एवेन्यू,
कलकत्ता में मुद्रित।

प्रस्तावना

गत सात वर्षों से कॉलेज में विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाते समय अनेकानेक गद्य-संग्रहों से परिचित होने के अवसर आते रहे हैं। उपलब्ध सभी संग्रह हिन्दी भाषा-भाषी छात्रों की आवश्यकता-पूर्ति के हेतु प्रकाशित किये गये हैं; पर अहिन्दी भाषा-भाषी विद्यार्थियों के उपयुक्त उनमें से एक भी नहीं जँचा। मन में यह धारणा दृढ़ बन गई कि हमें तो प्राप्त संग्रहों से नितान्त भिन्न प्रकार की पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता है। उसे तैयार करना अविनार्य है। समय-समय पर मेरे सहयोगी, विद्यार्थी और अन्य हिन्दी प्रेमी मित्र भी इसके लिए मुझ पर दबाव डालते रहे। उसी के फलस्वरूप यह **"हिन्दी गद्य गरिमा"** साकार हुई है।

इस संग्रह में हिन्दी साहित्य के सभी प्रमुख गद्य-लेखकों की उत्कृष्ट रचनाएँ संगृहीत हैं। इसमें रोचक कहानियाँ, संस्मरण, व्यंग्य एवं विनोद-पूर्ण लेख, शौर्य-कथा तथा गंभीर आलोचनात्मक और चिन्तनात्मक निबन्धों के साथ हिन्दी गद्य की विभिन्न शैलियों का भी समावेश किया गया है। रचनाओं के चयन में भाषा की सरलता और विषय की विविधता का पूरा ध्यान रखा गया है। इसके अतिरिक्त लेखों के संग्रह में आरम्भ से अंत तक यह तो दृष्टि-समक्ष रहा ही है कि इस संग्रह के अध्ययन द्वारा हमारी नई तरुण पीढ़ी मानवता के उच्च गुणों से अपने को विभूषित करने की सद्प्रेरणा प्राप्त करे।

संग्रह की उपयोगिता बढ़ाने के लिए प्रत्येक पाठ के प्रारम्भ में लेखक का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। छात्रों के विशेष अध्ययन के लिए प्रत्येक लेखक की प्रमुख रचनाओं का भी उल्लेख किया गया है और हर पाठ के अंत में अभ्यासार्थ कतिपय प्रश्न दिये गये हैं। आशा है, विद्यार्थीगण इस संकलन का स्वागत करेंगे।

अहमदाबाद
१५ : ६ : ५६

रणधीर उपाध्याय

हार्दिक कृतज्ञता

निम्नलिखित रचनाओं को इस पुस्तक में सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान करने के लिए संपादक उनके लेखकों एवम् प्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है :—

स्व० प्रेमचन्द-कृत **'ईदगाह'** के लिए सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद; **'सैर का मूल्य'** के लिए श्री गुलाबराय; स्व० जयशंकर प्रसाद-कृत **'भिखारिन'** के लिए श्री रत्नशंकर प्रसाद; **'प्रेमचन्द का महत्त्व'** के लिए श्री डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी; **'मेरी कुतिया'** के लिए पं० रामनरेश त्रिपाठी; **'गांधीजी'** के लिए श्री बनारसीदास चतुर्वेदी; **'शरणागत'** के लिए श्री वृन्दावनलाल वर्मा; श्रीमती महादेवी वर्मा-कृत **'घीसा'** के लिए भारती भंडार, इलाहाबाद; **'बाघ से भिड़ंत'** के लिए श्री श्रीराम शर्मा; श्री जैनेन्द्रकुमार-कृत **'एक गौ'** के लिए पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली; **'बुढ़ापा'** के लिए श्री पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'; स्व० श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान-कृत **'हींगवाला'** के लिए सुषमा साहित्य मंदिर, जबलपुर; **'एक लड़के की जान की क़ीमत सवा रुपया'** के लिए भदन्त आनन्द कौसल्यायन; **'मेरा वतन'** के लिए श्री विष्णु प्रभाकर; **'स्मृतिज्ञान कीर्ति'** के लिए महापंडित राहुल सांकृत्यायन। स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-कृत **'अध्ययन'** के लिए इन्डियन प्रेस, इलाहाबाद और स्व० डॉ० श्यामसुन्दर-दास-कृत **'आलस्य और दृढ़ता'** के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

विषय-सूची

बातचीत

पं० बालकृष्ण भट्ट

[हिन्दी के आरंभिक गद्य-लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट का स्थान बहुत ऊँचा है। आपने साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। प्रयाग से आपने 'हिन्दी-प्रदीप' नामक एक पत्र निकाला था, जिसका मुख्योद्देश्य हिन्दी गद्य की उन्नति करना था। प्रायः बत्तीस वर्ष तक 'हिन्दी-प्रदीप' हिन्दी जगत को प्रकाश देता रहा। भारतेन्दु-मण्डल में भट्टजी का महत्वपूर्ण स्थान था। आप स्वतंत्र विचार और स्वभाव के व्यक्ति थे। भट्टजी ने नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'शब्द-सागर' के सम्पादक-मण्डल में आप भी थे। आपका जन्म प्रयाग में सन् १८४४ ई० में हुआ था। भट्टजी की निबन्ध-लेखन-शैली सरस, सजीव और रोचक है। आपने अपनी भाषा में अवसर के अनुकूल संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी तक के शब्दों का प्रयोग किया है। आपकी भाषा में आपकी "वैयक्तिकता" स्पष्टतः झलकती है। भट्टजी जैसी भाषा बोलते थे, वैसी ही भाषा लिखते थे। आपकी रचना में मधुर हास्य एवं व्यंग्य का पुट भी होता है। साथ ही मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी पाया जाता है।

प्रमुख रचनाएँ :—

साहित्य-सुमन, सौ अजान और एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी, कलिराज की सभा आदि।]

इसे तो सभी स्वीकार करेंगे कि अनेक प्रकार की शक्तियाँ जो वरदान की भाँति ईश्वर ने मनुष्यों को दी हैं उनमें वाक्शक्ति भी एक है। यदि मनुष्य की और-और इंद्रियाँ अपनी-अपनी शक्तियों से अविकल रहतीं और वाक्शक्ति मनुष्यों में न होती तो हम नहीं जानते कि इस गूँगी सृष्टि का क्या हाल होता। सब लोग लुंज-पुंज से हो मानों कोने में बैठा दिये गये होते और जो कुछ सुख-दुख का अनुभव हम अपनी दूसरी-दूसरी इंद्रियों के

द्वारा करते उसे अवाक् होने के कारण, आपस में एक-दूसरे से कुछ न कह-सुन सकते। इस वाक्शक्ति के अनेक फ़ायदों में "स्पीच"—वक्तृता और बातचीत दोनों हैं। किंतु स्पीच से बातचीत का ढंग ही निराला है। बातचीत में वक्ता को नाज़-नखरा ज़ाहिर करने का मौका नहीं दिया जाता कि वह बड़े अंदाज़ से गिनकर पाँव रखता हुआ पुलपिट पर जा खड़ा हो और पुण्याहवाचन या नांदीपाठ की भाँति घड़ियों तक सावधान मजलिस, चेयरमैन, लेडीज़ ऐंड जेंटिलमेन की बहुत सी स्तुति करे-करावे और तब किसी तरह वक्तृता का आरंभ करे। जहाँ कोई मर्म या नोक की चुटीली बात वक्ता महाशय के मुख से निकली कि करतल-ध्वनि से कमरा गूँज उठा। इसलिए वक्ता को खामखाह ढूँढ़कर कोई ऐसा मौका अपनी वक्तृता में लाना ही पड़ता है जिसमें करतलध्वनि अवश्य हो।

हमारी साधारण बातचीत का कुछ ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौका है, न लोगों को कहकहे उड़ाने की कोई बात ही रहती है। हम दो आदमी प्रेम-पूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई, हँस पड़े। मुस्कराहट से ओठों का केवल फड़क उठना ही इस हँसी की अन्तिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इनमें स्पीच की वह सब संजीदगी बे-कदर हो धक्के खाती फिरती है।

जहाँ आदमी को अपनी जिंदगी मजेदार बनाने के लिये खाने, पीने, चलने, फिरने आदि की जरूरत है, वहाँ बातचीत की भी उसको अत्यन्त आवश्यकता है। जो कुछ मवाद या धुआँ जमा रहता है वह बातचीत के जरिये भाप बन बाहर निकल पड़ता है। चित्त हलका और स्वच्छ हो परम आनंद में मग्न हो जाता है। बातचीत का भी एक खास तरह का मज़ा होता है। जिनको बातचीत करने की लत पड़ जाती है वे इसके पीछे खाना-पीना भी छोड़ बैठते हैं। अपना बड़ा हर्ज कर देना उन्हें पसंद आता है, पर वे बातचीत का मज़ा नहीं खोया चाहते। राबिंसन क्रूसो का

किस्सा बहुधा लोगों ने पढ़ा होगा, जिसे सोलह वर्षों तक मनुष्य का मुख देखने को भी नहीं मिला। कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों के बीच में रह सोलह वर्ष के उपरांत उसने फ्राइडे के मुख से एक बात सुनी। यद्यपि उसने अपनी जंगली बोली में कहा था पर उस समय राबिंसन को ऐसा आनंद हुआ मानों उसे नये सिरे से फिर से आदमी का चोला मिला हो। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति में लुभा लेने की ताकत कहाँ तक है। जिनसे केवल पत्र-व्यवहार है, कभी एक बार भी साक्षात्कार नहीं हुआ, उन्हें अपने प्रेमी से बात करने की कितनी लालसा रहती है। अपना आभ्यंतरिक भाव दूसरे पर प्रगट करना और उसका आशय आप ग्रहण कर लेना केवल शब्दों के ही द्वारा हो सकता है। सच है, जब तक मनुष्य बोलता नहीं तब तक उसका गुण-दोष प्रगट नहीं होता। बेन जानसन का यह कहना कि बोलने से ही मनुष्य के रूप का साक्षात्कार होता है, बहुत ही उचित जान पड़ता है।

इस बातचीत की सीमा दो से लेकर वहाँ तक रखी जा सकती है जहाँ तक उनकी जमात मीटिंग या सभा न समझ ली जाय। एडिसन का मत है कि असल बातचीत सिर्फ दो व्यक्तियों में हो सकती है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि जब दो आदमी होते हैं तभी अपना दिल एक दूसरे के सामने खोलते हैं। जब तीन हुए तब वह दो की बात कोसों दूर गयी। कहा भी है कि छः कानों में पड़ी बात खुल जाती है। दूसरे यह भी कि किसी तीसरे आदमी के आ जाते ही या तो वे दोनों अपनी बातचीत से निरस्त हो बैठेंगे या उसे निपट मूर्ख अज्ञानी समझ बनाने लगेंगे।

जैसे गरम दूध और ठंढे पानी के दो बरतन पास सटा कर रखे जायँ तो एक का असर दूसरे में पहुँचता है, अर्थात् दूध ठंढा हो जाता है और पानी गरम, वैसे ही दो आदमी पास बैठे हों तो एक का गुप्त असर दूसरे पर पहुँच जाता है, चाहे एक दूसरे को देखे भी नहीं, तब बोलने की कौन कहे। एक के शरीर की विद्युत् दूसरे में प्रवेश करने लगती है। जब पास बैठने का इतना असर होता है तब बातचीत में कितना अधिक असर

होगा, इसे कौन न स्वीकार करेगा। अस्तु, अब इस बात को तीन आदमियों के साथ में देखना चाहिए। मानों एक त्रिकोण सा बन जाता है। तीनों चित्त मानों तीन कोण हैं और तीनों की मनोवृत्ति के प्रसरण की धारा मानो उस त्रिकोण की तीन रेखाएँ हैं। गुप-चुप असर तो उन तीनों में परस्पर होता ही है। जो बातचीत तीनों में की गयी वह मानों अंगूठी में नग सी जड़ जाती है। उपरान्त जब चार आदमी हुए तब बेतकल्लुफी को बिल्कुल स्थान नहीं रहता। खुल के बातें न होंगी। जो कुछ बातचीत की जायगी वह "फार्मेलिटी", गौरव और संजीदगी के लच्छे में सनी हुई होगी। चार से अधिक की बातचीत तो केवल राम-रमौवल कहलावेगी। उसे हम संलाप नहीं कह सकते। इस बातचीत के अनेक भेद हैं। दो बुड्ढों की बातचीत प्राय: जमाने की शिकायत पर हुआ करती है। वे बाबा आदम के समय की ऐसी दास्तान शुरु करते हैं जिसमें चार सच तो दस झूठ। एक बार उनकी बातचीत का घोड़ा छूट जाना चाहिए, पहरों बीत जाने पर भी अन्त न होगा। प्राय: अँग्रेज़ी राज्य, परदेश और पुराने समय की बुरी रीति-नीति का अनुमोदन और इस समय के सब भाँति लायक नौजवानों की निन्दा उनकी बातचीत का मुख्य प्रकरण होगा। पढ़े-लिखे हुए तो शेक्सपियर, मिल्टन, मिल और स्पेंसर उनकी जीभ के आगे नाचा करेंगे। अपनी लियाकत के नशे में चूर-चूर 'हम चुनी दीगरे नेस्त', अक्खड़पन की चर्चा छेड़ेंगे। दो हमसहेलियों की बातचीत का कुछ जायका ही निराला है। रस का समुद्र मानों उमड़ा चला जा रहा है। इसका पूरा स्वाद उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्हें ऐसों की रससनी बातें सुनने को कभी भाग्य लड़ा है।

दो बुढ़ियों की बातचीत का मुख्य प्रकरण, बहू-बेटीवाली हुईं तो, अपनी बहुओं या बेटों का गिला-शिकवा होगा या वे बिरादराने का कोई ऐसा रामरसरा छेड़ बैठेंगी कि बात करते-करते अन्त में खोड़े दाँत निकाल लड़ने लगेंगी। लड़कों की बातचीत, खिलाड़ी हुए तो, अपनी-अपनी तारीफ करने के बाद वे कोई सलाह गाँठेंगे जिसमें उनको अपनी शैतानी जाहिर करने का पूरा मौका मिले। स्कूल के लड़कों की बातचीत का उद्देश्य

अपने उस्ताद की शिकायत या तारीफ या अपने सहपाठियों में किसी के गुन-औगुन का कथोपकथन होता है। पढ़ने में कोई लड़का तेज हुआ तो कभी अपने सामने दूसरे को कुछ न गिनेगा। सुस्त और बोदा हुआ तो दबी बिल्ली का सा स्कूल भर को अपना गुरु ही मानेगा। इसके अलावा बातचीत की और बहुत-सी किस्में हैं। राजकाज की बात, व्यापार-सम्बन्धी बातचीत, दो मित्रों में प्रेमालाप इत्यादि। हमारे देश में नीच जाति के लोगों में बतकही होती है। लड़की-लड़केवाले की ओर से एक-एक आदमी बिचवई होकर दोनों के विवाह सम्बन्ध की कुछ बातचीत करते हैं। उस दिन से बिरादरीवालों को जाहिर कर दिया जाता है कि अमुक की लड़की का अमुक के लड़के के साथ विवाह पक्का हो गया और यह रस्म बड़े उत्सव के साथ की जाती है। चंडूखाने की बातचीत भी निराली होती है। निदान बात करने के अनेक प्रकार और ढंग हैं।

यहाँ तक हमने बाहरी बातचीत का हाल लिखा है जिसमें दूसरे के शरीक होने की बहुत आवश्यकता है, बिना किसी दूसरे मनुष्य के हुए जो किसी तरह संभव नहीं है और जो दो ही तरह पर हो सकती है—या तो कोई हमारे यहाँ कृपा करे या हमीं जाकर दूसरे को कृतार्थ करें। पर यह सब तो दुनियादारी है जिससे कभी-कभी रसाभास होते देर नहीं लगती; क्योंकि जो महाशय अपने यहाँ पधारे उनकी पूरी दिलजोई न हो सकी तो शिष्टाचार में त्रुटि हुई। अगर हमीं उनके यहाँ गये तो पहले बिना बुलाये जाना ही अनादर का मूल है और जाने पर अपने मन माफिक बर्ताव न किया गया तो मानों एक दूसरे प्रकार का नया घाव हुआ। इसलिये बातचीत करने का सबसे उत्तम प्रकार हम यही समझते हैं कि हम वह शक्ति अपने में पैदा कर सकें कि अपने आप बात कर लिया करें। हमारी भीतरी मनोवृत्ति जो प्रतिक्षण नये-नये रंग दिखाया करती है, वह प्रपंचात्मक संसार का एक बड़ा भारी आइना है जिसमें जैसी चाहो वैसी सूरत देख लेना कुछ दुर्घट बात नहीं है और जो एक ऐसा चमनिस्तान है जिसमें हर किस्म के बेल-बूटे खिले हुए हैं। ऐसे चमनिस्तान की सैर में क्या कम दिलबहलाव

है ? मित्रों का प्रेमालाप कभी इसकी सोलहवीं कला तक भी न पहुँच सका। इस सैर का नाम ध्यान या मनयोग या चित्त को एकाग्र करना है जिसका साधन एक-दो दिन का नहीं। बरसों के अभ्यास के उपरांत यदि हम थोड़ी भी अपनी मनोवृत्ति स्थिर कर अवाक् हो अपने मन के साथ बातचीत कर सकें तो एक वाक्शक्ति मात्र के दमन से न जाने कितने प्रकार का दमन हो गया। हमारी जिह्वा कतरनी के समान सदा स्वच्छंद चला करती है, उसे यदि हमने दबा कर काबू में कर लिया तो क्रोधादिक बड़े-बड़े अजेय शत्रुओं को बिना प्रयास जीत अपने वश कर डाला। इसलिए अवाक् रह अपने आप बातचीत करने का यह साधन बहुत साधनों का मूल है, शांति का परम पूज्य मंदिर है, परमार्थ का एकमात्र सोपान है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। मनुष्य को बातचीत से क्या लाभ होते हैं ?

२। बातचीत के प्रकारों को दर्शाते हुए एक छोटा-सा लेख लिखिये।

३। निबन्ध लिखिये :—

अगर मैं गूँगा होता !

परीक्षा

पं० प्रतापनारायण मिश्र

[पं० प्रतापनारायण मिश्रजी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और पं० बालकृष्ण भट्ट के समकालीन थे। इनका जन्म वि० सं० १९१३ में कानपुर में हुआ था। आपने हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। आप अपने समय के अग्रगण्य साहित्यकारों में गिने जाते थे। आपने कविता, नाटक, प्रहसन निबन्ध, आदि विविध प्रकार की रचनाएँ की हैं। आप "ब्राह्मण" पत्र का सम्पादन करते थे। आप विशेषत: निबन्ध-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं।

मिश्रजी विनोदप्रिय व्यक्ति थे। आपकी रचनाओं में भी आपकी स्वाभाविक विनोदप्रियता पूरी तरह झलकती है। गंभीर विषय में आप विनोद और व्यंग्य का समावेश कर उसे रोचक एवम् सरस बना देते हैं। आपने अपनी भाषा को परिमार्जित करने का कभी भी प्रयत्न नहीं किया। बोलचाल का जनपदीय रूप आपकी भाषा में मिलता है। आपने मुहावरों का भी अधिक प्रयोग किया है। आपकी भाषा में जिन्दादिली है।

आपकी मृत्यु ३८ वर्ष की अल्पायु में ही हो गई।]

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है। परमेश्वर न करे कि इसका सामना किसी को पड़े! महात्मा मसीह ने अपने निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी, जिसको आज भी सब क्रिस्तान पढ़ते हैं; उसमें एक यह भी भाव है कि "हमें परीक्षा में मत डाल, वरंच बुराई से बचा"। परमेश्वर करे सबकी मुँदी भलमन्सी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहले काँप उठता है, फिर उसके यावत् परमाणु सब तितर-बितर हो जाते हैं। यदि कहीं कुछ खोट हुई तो जल ही जाता है, घट जाता है। जब जड़ पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना! हमारे पाठकों में कदाचित् ऐसा कोई न होगा जिसने बाल्या-

वस्था में कहीं पढ़ा न हो। महाशय, उन दिनों का स्मरण कीजिए, जब इम्तहान के थोड़े दिन रह जाते थे। क्या सोते, जागते, उठते, हर घड़ी एक चिंता चित्त पर चढ़ी न रहती थी? पहिले से अधिक परिश्रम करते थे तो भी दिन-रात देवी-देवता मनाते बीतता था। देखिए क्या हो, परमेश्वर कुशल करे। सच है, यह अवसर ही ऐसे हैं। परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग्य में नहीं है!

जिन्हें हम आज बड़ा पंडित, धनी, बड़ा बली, महा देशहितैषी, महा-सत्यसंध, महानिष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उनकी ठीक-ठीक परीक्षा करने लगें तो कदाचित् फी सैकड़ा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें। यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आपको निश्चय होगा कि प्रकट जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमन्सी दीख पड़ती है वह गुप्त रूपेण कै जनों में कहाँ तक है? जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा संसार में हमें परीक्षार्थ भेजा है उनके अन्तःकरण की गति पर हमें दया आती है। हमने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं उस सर्वज्ञ सर्वान्तरयामी से छिपा नहीं है। हम पापात्मा, पापसम्भव भला उसके आगे परीक्षा में कै पल ठहरेंगे?

संसार में संसारी जीव निस्सन्देह एक दूसरे की परीक्षा न करें तो काम न चले, पर उस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अतः प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय सम्भव नहीं। न्याय यदि कोई वस्तु है, और यह बात यदि निस्सन्देह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिसकी परीक्षा १०० बार कर लीजिए उसकी ओर से भी निस्सन्देह न बना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है! फिर इस बात को कौन कहेगा कि परीक्षा उलझन का विषय नहीं है। कपटी ही लोग बहुधा मिष्टभाषी और शिष्टाचारी होते हैं, थोड़े ही मूल्य की धातु में अधिक ठनठनाहट होती है, थोड़ी ही योग्यता में अधिक आडम्बर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचम्भा है! सब

गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है, अतः ठीक परीक्षा पर जिसकी कलई न खुल जाय उसी के धन्य भाग्य ! हमने भी स्वयं अनुभव किया है कि बरसों जिनके साथ बदनाम रहे, बीसियों हानियाँ सहीं, कई बार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने को या कारागार जाने को उद्यत हो गये, उनके दोष अपने ऊपर ले लिए, और वे भी सदा हमारी बात पर अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, जहाँ तेरा पसीना गिरेगा वहाँ हमारा मृत शरीर पहले गिर लेगा, पर जब समय आया, कि गैरों के सामने हमारी इज़्ज़त न रहे, तो उन्हीं महाशयों ने आँख टेढ़ी कर ली।

कहाँ तक कहें परीक्षा सब को खलती है ! क्या ही अच्छा होता जो सबके सब बातों में सच्चे होते और जग में परीक्षा का काम न पड़ा करता ! वह बड़भागी धन्य है जो अपनी जीवन-यात्रा को यों ही समाप्त कर दे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। परीक्षा की कठिनाइयों का सविस्तार वर्णन कीजिये।
२। क्या परीक्षा उलझन का विषय है ? सकारण उत्तर लिखिये।
३। निबन्ध लिखिये—
"जीवन एक परीक्षा है।"

बौद्धकालीन भारत के विश्वविद्यालय

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

[हिन्दी-गद्य-लेखकों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का स्थान सर्वोपरि है। ये गद्य-लेखकों के 'आचार्य' माने जाते हैं। हिन्दी के लिए द्विवेदीजी ने वही कार्य किया, जो अंग्रेज़ी के लिए डॉ० जानसन ने किया था। आपके पहले जितने हिन्दी-गद्य-लेखक हुए हैं, उन सबकी रचनाओं में भाषा-दोष एवम् व्याकरण सम्बन्धी भूलें पाई जाती हैं। द्विवेदीजी ने भाषा को परिष्कृत और परिमर्जित किया, लेखन-शैली को स्थिरता प्रदान की और व्याकरण के नियमों की पूर्णतः प्रतिष्ठा की। आपने अपनी पत्रिका 'सरस्वती' द्वारा अनेक युवकों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर लेखक बनाया। अंग्रेज़ी की ओर झुके हुए लोगों को हिन्दी की ओर खींचा। इस प्रकार आपने हिन्दी का परम उपकारी कार्य किया।

द्विवेदीजी संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी के तो प्रकांड पंडित थे ही। इसके अतिरिक्त विभिन्न भारतीय भाषाओं के भी ज्ञाता थे। आपने निबन्ध, आलोचना, कविता आदि विविध प्रकार की रचनाएँ की हैं। संस्कृत और अंग्रेजी के कुछ ग्रंथों के सफल अनुवाद भी किये हैं। पुरातत्व, विज्ञान, राजनीति आदि विषयों पर हमें आपके लेख उपलब्ध होते हैं। आपकी भाषा संयत और सप्रमाण है। आपमें शब्द-चयन की निपुणता और निरूपण की सुस्पष्टता अद्भुत थी।

प्रमुख रचनाएँ :—

विचार-विमर्श, रसज्ञ-रंजन, साहित्य-सीकर, सुकवि-संकीर्तन, कविता-कलाप, बेकन-विचार-रत्नावली आदि।]

बौद्धकाल तीन युगों में बाँटा जा सकता है। पहला युग गौतम बुद्ध के समय से शुरू होता है और पाँच सौ वर्ष तक रहता है। इस युग के बौद्ध साधुचरित्र और सच्चे त्यागी होते थे। दूसरा युग ईसवी सन् के साथ प्रारम्भ होता है और ईसा की छठी शताब्दी में समाप्त हो जाता है। इस युग में बौद्धों ने पहले युग के गुण अक्षुण्ण रखने के साथ-साथ

शिल्पकला में भी अच्छी उन्नति की थी। सातवीं शताब्दी से तीसरा युग लगता है। उसे तान्त्रिक युग भी कह सकते हैं। उसमें बौद्ध महन्तों के चरित्र बिगड़ने लगे थे और पहले की जैसी त्यागशीलता जाती रही थी, परन्तु उन लोगों ने आयुर्वेद और रसायनशास्त्र में खूब उन्नति की थी। उनमें से प्रत्येक युग के विशेषत्व की छाप उस समय के विश्वविद्यालयों में अच्छी तरह पाई जाती है।

तक्षशिला का विश्वविद्यालय

पहले युग का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय तक्षशिला नगर में था। यह नगर वर्तमान रावलपिण्डी के पास था। प्राचीन काल में यह एक अत्यन्त विख्यात नगर था। बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि यह अपने समय में विद्या-सम्बन्धी चर्चा और पठन-पाठन का केन्द्र था। यह विश्वविद्यालय बुद्ध के पहले ही स्थापित हो चुका था। इसमें वेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग आदि के सिवा आयुर्वेद, मूर्त्तिकारी, चित्रकारी, गृह-निर्माण-विद्या आदि भी पढ़ाई जाती थीं।

विज्ञान, कला-कौशल और दस्तकारी के सब मिलाकर कोई अठारह विषय पढ़ाये जाते थे। इनमें से प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग विद्यालय बने हुए थे और भिन्न-भिन्न विषयों को भिन्न-भिन्न अध्यापक पढ़ाते थे। जगत्-विख्यात संस्कृत वैयाकरण पाणिनि और राजनीतिज्ञ-शिरोमणि चाणक्य ने इसी विश्वविद्यालय में शिक्षा पाई थी। आत्रेय यहाँ वैद्यक शास्त्र के अध्यापक थे। मगध-नरेश बिम्बसार के दरबारी चिकित्सक और महात्मा बुद्ध के प्रिय मित्र तथा मतानुयायी वैद्यराज जीवक ने तक्षशिला ही के अध्यापकों से चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया था। कई वर्ष अध्ययन करने के बाद एक शिष्य ने अपने उपाध्याय से पूछा कि शिक्षा समाप्त होने में अभी कितने दिन बाकी हैं। उपाध्याय ने उत्तर में कहा कि तक्षशिला के चारों तरफ, एक योजन भूमि में जड़ी-बूटियों के सिवा जितने व्यर्थ पौधे मिलें उन सबको जमा करो। बेचारे विद्यार्थी ने नियत स्थान के प्रत्येक पौधे की परीक्षा की, परन्तु उसे कोई भी व्यर्थ पौधा न

मिला। शिक्षक महाशय ने अपने परिश्रमी विद्यार्थी की खोज का हाल सुना तो बड़े प्रसन्न हुए। उससे बोले कि तुम्हारी शिक्षा समाप्त हो गई, अब तुम अपने घर जाओ।

जिस समय तक्षशिला में वैदिक-धर्मावलम्बियों की प्रबलता थी उस समय तीन बातें ऐसी थीं जिनको यहाँ पर लिख देना हम उचित समझते हैं। एक तो यह कि उस समय की शिक्षा-प्रणाली नियम-बद्ध विश्वविद्यालयों की जैसी न थी; किन्तु ऐसी थी जैसे कि वर्तमान काल में बनारस की है। पर बौद्ध विहारों की पढ़ाई इससे ठीक उलटी थी। यहाँ की शिक्षा-प्रणाली वैसी ही थी जैसी नियम-बद्ध विश्वविद्यालयों की होनी चाहिये। दूसरी बात यह कि बौद्ध विहारों की तरह यहाँ पर केवल सन्यासियों को ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, किन्तु गुरु और शिष्य दोनों ही गृहस्थ होते थे। यह बात जातक की एक कहानी से और भी स्पष्ट हो जाती है। एक ब्राह्मण न अपने पुत्र से पूछा कि तुम कैसा जीवन बिताना चाहते हो? यदि तुम ब्राह्मण-राज्य में प्रवेश करना चाहते हो तो वन को जाओ और वहाँ अग्निहोत्र करो। यदि गृहस्थ बनना चाहते हो तो तक्षशिला जाकर किसी विख्यात पण्डित से विद्याध्ययन करो जिसमें सुख-पूर्वक गृहस्थ जीवन बिता सको। पुत्र ने उत्तर दिया :—"मैं वानप्रस्थ बनना नहीं चाहता; मेरी इच्छा गृहस्थ बनने की है।" तक्षशिला के वैदिक विद्यालयों में ध्यान देने योग्य तीसरी बात यह थी कि उनमें केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय बालक ही भर्ती किये जाते थे।

नालन्द का विश्वविद्यालय

बौद्धकाल के दूसरे युग में सबसे बड़ा विश्वविद्यालय नालन्द में था। यह स्थान मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह से सात मील उत्तर की ओर और पटना से चौंतीस मील दक्षिण की ओर था। आजकल इस जगह पर 'बारगाँव' नामक ग्राम बसा हुआ है जो गया जिले के अन्तर्गत

है। नालन्द की प्राचीन इमारतों के खँडहर यहाँ अभी तक पाए जाते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसङ्ग ने नालन्द की शान व शौकत का बड़ा ही मनोहर वृत्तान्त लिखा है। चीन ही में उसने नालन्द का हाल सुना था; तभी से इसे देखने के लिए वह ललचा रहा था। इधर-उधर घूमते-घामते जब वह गया पहुँचा तब विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने उसे नालन्द म आने के लिए निमन्त्रण दिया। इससे उसने अपने को धन्य समझा। नालन्द में पहुँचते ही उसके दिल पर ऐसा असर पड़ा कि वह तुरन्त विद्यार्थियों में शामिल हो गया।

नालन्द की बाहरी टीमटाम

विद्यालोलुप चीनी संन्यासी नालन्द की भव्यता और पवित्रता देखकर लट्टू हो गया। ऊँचे-ऊँचे विहार और मठ चारों ओर खड़े थे। बीच-बीच में सभागृह और विद्यालय बने हुए थे। वे सब समाधियों, मन्दिरों और स्तूपों से घिरे हुए थे। उनके चारों तरफ बौद्ध शिक्षकों और प्रचारकों के रहने के लिए चौमंजिला इमारतें बनी हुई थीं। उनके सिवा ऊँची-ऊँची मीनारों और विशाल भवनों की शोभा देखने ही योग्य थी। इन भवनों में नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न जड़े हुए थे। रंग-बिरंगे दरवाजों, कड़ियों, छतों और खम्भों की सजावट को देखकर लोग लोटपोट हो जाते। विद्या मन्दिरों के शिखर आकाश से बातें करते थे और हुएनसंग के कथनानुसार उनकी खिड़कियों से वायु और मेघ के जन्मस्थान दिखाई देते थे। मीठे और स्वच्छ जल की धारा चारों ओर बहा करती थी और सुन्दर खिले हुए कमल उसकी शोभा बढ़ाया करते थे।

नालन्द का आन्तरिक जीवन

विशालता, नियम-बद्धता और सुप्रबन्ध के विचार से नालन्द का विश्वविद्यालय वर्त्तमान काशी की अपेक्षा ऑक्सफोर्ड से अधिक मिलता

जुलता था। विश्वविद्यालय के विहारों में कोई दस हजार भिक्षु-विद्यार्थी और डेढ़ हजार अध्यापक रहते थे। केवल दर्शन और धर्मशास्त्र के ही सौ अध्यापक थे। इससे सम्बन्ध रखने वाला पुस्तकालय नव-मंजिला था, जिसकी ऊँचाई करीब तीन सौ फुट थी। उसे महाराज बालादित्य ने बनवाया था। इसमें बौद्ध-धर्म सम्बन्धी सभी ग्रन्थ थे। प्राचीन काल में इतना बड़ा पुस्तकालय शायद ही कहीं रहा हो।

दुनिया में आज-कल जितने विश्वविद्यालय हैं सबमें विद्यार्थियों से फीस ली जाती है। पर नालन्द के विश्वविद्यालय की दशा इससे ठीक उलटी थी। केवल यही नहीं कि विद्यार्थियों से कुछ न लिया जाता था अपितु उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु मुफ्त दी जाती थी अर्थात् भोजन, वस्त्र, औषध, निवासस्थान आदि सब कुछ सेतमेंत मिलता था। यह प्रथा हिन्दुस्तान में बहुत प्राचीन काल से चली आई है। गृहस्थ लोग गाँव, खेत, बाग, वस्त्र अथवा नकद रुपये इन विद्यालयों को दान करते थे। इसी से उनका सम्पूर्ण खर्च चलता था। इस प्रकार विद्यार्थियों का बहुत समय और मानसिक शक्ति पेट पूजा के लिए धनोपार्जन करने में नष्ट होने से बच जाती थी और वे इस समय और शक्ति को विद्याध्ययन में लगाते थे। इसका फल यह होता था कि गम्भीर विचार वाले मननशील विद्वान् इन विद्यालयों से निकलते थे। इसी से वे लोग बौद्ध धर्म, संस्कृत-साहित्य और संसार का अनन्त उपकार कर गए हैं।

नालन्द के विश्वविद्यालय में आज-कल की सी परीक्षाएँ न होती थीं, किन्तु विद्यार्थियों की योग्यता शास्त्रार्थ द्वारा जाँची जाती थी। विद्यालय में भर्ती होने के नियम भी बड़े कड़े थे। जो लोग दाखिल होने के लिये आते थे उनसे द्वार-पण्डित कुछ कठिन प्रश्न करता था; यदि वे उनका उत्तर दे सकते थे तो भीतर जाने पाते थे, नहीं तो लौट जाते थे। इसके बाद शास्त्रार्थ के द्वारा उनकी योग्यता की परीक्षा ली जाती थी। जो इसमें भी अपनी योग्यता प्रमाणित कर सकते थे वही विद्यालय में दाखिल हो सकते थे। बाकी अपना-सा मुँह लेकर अपना रास्ता लेते थे। मतलब

यह कि अच्छे बुद्धिमान्, विद्वान्, योग्य और गुणवान् मनुष्य ही विद्यालय में प्रवेश करते थे।

द्वार-पण्डित के पद पर वही नियत किया जाता था जो ऊँचे दर्जे का विद्वान् होता था। यह पद उस समय बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था। विश्वविद्यालय के सभागृह में सवेरे से शाम तक शास्त्रार्थ हुआ करता था। दूर-दूर देशों से पण्डित अपनी शंकाएँ दूर करने के लिए वहाँ आते थे। नालन्द के विद्यार्थियों का देश भर में आदर, सत्कार-सम्मान होता था। जहाँ वे लोग जाते थे वहीं उनकी इज्जत होती थी।

नालन्द के प्रायः सभी अध्यापक और विद्यार्थी धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। असल में धार्मिक जीवन बिताने के लिए ही इसकी सृष्टि हुई थी; इसीलिए इसका नाम "धर्मगंज" पड़ा था। परन्तु पीछे इसकी काया पलट गई थी। दर्शन और धर्मशास्त्र के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, वैद्यक आदि व्यावहारिक और सांसारिक विद्याएँ भी पढ़ाई जाने लगी थीं। तमाम हिन्दुस्तान के विद्यार्थी इन विद्याओं को पढ़ने के लिए यहाँ आते थे।

श्रीधन्यकटक का विश्वविद्यालय

इस युग का दूसरा प्रसिद्ध विश्वविद्यालय श्री धन्यकटक में था। यह स्थान दक्षिण भारत में, कृष्णा नदी के किनारे वर्तमान अमरावती के स्तूपों के निकट था।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के चौदहवें धर्मगुरु, विख्यात रसायन-शास्त्रवेत्ता और चिकित्सक नागार्जुन के समय में यह खूब उन्नत दशा में था और देश-देशान्तरों में प्रसिद्ध हो गया था। चीनी यात्री इत्सिङ्ग के कथनानुसार नागार्जुन महाशय ईसा की चौथी शताब्दी में थे। वहाँ पर वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के ग्रन्थ पढ़ाए जाते थे। तिब्बत की राजधानी लासा के निकट डायग विश्वविद्यालय इसी के नमूने पर बनाया गया था। पठन-पाठन विधि वहाँ भी वैसी ही थी जैसी कि नालन्द में।

ओदन्तपुरी विक्रमशिला के विश्वविद्यालय

यह हम लिख चुके हैं कि बौद्धकाल का तीसरा युग सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस समय के बौद्ध महन्तों में पहले का जैसा धार्मिक उत्साह बाकी न था। परन्तु वैज्ञानिक खोज करने का जोश खूब बढ़ गया था। वैद्यक और रसायन-शास्त्र में उन लोगों ने अच्छी उन्नति की थी। इस समय दो मुख्य विश्वविद्यालय थे, एक ओदन्तपुरी में, दूसरा विक्रमशिला में। ये दोनों स्थान बिहार प्रान्त में हैं। पाल वंश के राजाओं ने ओदन्तपुरी में एक बड़ा भारी विश्वविद्यालय स्थापित किया था। उसमें वैदिक और बौद्ध दोनों प्रकार के हजारों ग्रन्थ थे। ओदन्तपुरी के नमूने पर तिब्बत में शाक्य नामक एक विश्वविद्यालय खोला गया था।

पाल राजा बड़े ही विद्या-रसिक और विद्वानों के संरक्षक थे। उनका सम्बन्ध एक और विश्वविद्यालय से भी था। उसका नाम था विक्रम-शिला। यह विद्यालय भागलपुर जिले के अंतर्गत, सुलतानगंज गाँव के निकट, गंगा के दाहिने किनारे एक पहाड़ी की चोटी पर था। सब मिला कर कोई एक सौ आठ भवन थे। इस विद्यालय के आधीन छः महाविद्यालय थे, जिनमें एक सौ आठ पंडित पढ़ाते थे। इन सब पण्डितों तथा अन्य अतिथि विद्वानों का खर्च पूर्वोक्त महाराज के दिये हुए गाँवों की आमदनी से चलता था। बीच का भवन विज्ञान मन्दिर के नाम से विख्यात था। उसमें बिहार के महन्त उन पंडितों से बौद्ध ग्रन्थ पढ़ते थे जो विश्वविद्यालय के प्रथम और द्वितीय स्तंभ कहलाते थे। राजा जयपाल के शासन-काल में विश्वविद्यालय की देखभाल के लिए छः द्वार-पंडित नियत थे। इसी समय महात्मा जेतारि ने एक सत्र स्थापित किया था। उसमें विक्रमशिला के विद्यार्थियों को मुफ्त भोजन मिलता था। विद्यालय के स्थायी विद्यार्थियों को भोजन देने के लिये चार सत्र पहले ही से थे। इनके सिवा वारेन्द के अधीश महाराज सनातन ने दसवीं शताब्दी के आदि में एक सत्र और भी खोला था। विश्वविद्यालय के प्रबन्ध के लिए छः विद्वानों की एक

सभा थी जिसका सभापति सदा राजपुरोहित होता था। इस विश्वविद्यालय से पढ़कर जो विद्यार्थी निकलते थे उनको पण्डित की पदवी दी जाती थी। अपने समय के सबसे बड़े नैयायिक पण्डित जेतारि ने इसी विश्वविद्यालय के पण्डित की पदवी और राजा महापाल का हस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र पाया था। महाराज उनकी गहरी विद्वत्ता से इतने प्रसन्न हुए थे कि उन्होंने उनको द्वार-पण्डित के प्रतिष्ठित पद पर नियत किया था। इस विश्वविद्यालय में व्याकरण, अभिधर्म, दर्शनशास्त्र, विज्ञान, वैद्यक, आदि कई विषय पढ़ाए जाते थे। तिब्बत के लामा विक्रमशिला में आते थे और वहाँ के पण्डितों की सहायता से संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में करते थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। तक्षशिला विश्वविद्यालय की संक्षिप्त रूपरेखा दीजिये और उसकी शिक्षा-पद्धति का परिचय भी दीजिये।

२। नालन्द की कीर्ति आज तक क्यों फैली हुई है? उत्तर दीजिये।

३। नालन्द और तक्षशिला से हमारे आज के विश्वविद्यालयों की तुलना कीजिये।

ईदगाह

श्री प्रेमचन्द

[स्व० प्रेमचन्दजी को हिन्दी-जगत "उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द" कहता है। और यह उचित भी है, क्योंकि उपन्यास-लेखन में आपने जो अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की है, वह हिन्दी के अन्य किसी उपन्यासकार में आजतक नहीं देखी गई। प्रेमचन्दजी का जन्म काशी के समीप एक छोटे से गाँव में हुआ था। आप गरीबी में पैदा हुए, गरीबी में पले और गरीबी ही में परलोक सिधारे। इसीलिए भारत की गरीबी का नग्न चित्र आपकी रचनाओं में यथार्थ रूप से चित्रित हुआ है। प्रेमचन्दजी सर्वप्रथम उर्दू के महान लेखक थे। बाद में हिन्दी में लिखने लगे। "सेवा-सदन" आपका सर्वप्रथम हिन्दी उपन्यास है। उसके बाद तो कई उपन्यास और कहानियाँ क्रमशः प्रकाश में आने लगीं। आपने लगभग चार सौ कहानियाँ, सोलह उपन्यास और तीन नाटक लिखे। "हंस" मासिक पत्र के आप ही प्रकाशक और सम्पादक थे। प्रेमचन्द जी भारतीय ग्रामीण-जीवन के सच्चे कलाकार हैं। आपकी रचनाओं में इस देश का यथार्थ जीवन उभर आया है। आप हमारे देश के प्रतिनिधि लेखक हैं। आज प्रेमचन्दजी की गणना संसार के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में होती है।

प्रेमचन्दजी की लोकप्रियता का कारण उनकी प्रभावोत्पादक शैली है। शैली में सजीवता, सरलता और सुन्दरता है। भाषा स्वाभाविक तथा बोलचाल की है। मुहावरों और उपयुक्त उपमाओं के कारण भाषा में चमत्कार पैदा हो जाता है।

प्रमुख रचनाएँ :--

उपन्यासः---सेवा-सदन, कर्मभूमि, रंगभूमि, निर्मला, काया-कल्प, गबन, प्रेमाश्रम, गोदान।

कहानी-संग्रहः---मानसरोवर, (आठभाग,) नवनिधि, सप्त सुमन, सप्तसरोज, प्रेमद्वादशी, प्रेमपचीसी, कफन आदि।]

रमज़ान के पूरे तीस रोज़ों के बाद आज ईद आयी है। कितना मनोहर, कितना सुहावना प्रभात है! वृक्षों पर कुछ अजीब हरियाली है, खेतों में कुछ अजीब रौनक है, आसमान पर कुछ अजीब लालिमा है। आज

का सूर्य देखो, कितना प्यारा, कितना शीतल है, मानो संसार को ईद की बधाई दे रहा है। गाँव में कितनी हलचल है! ईदगाह जाने की तैयारियाँ हो रही हैं। किसी के कुरते में बटन नहीं है। पड़ोस के घर से सुई-तागा लेने दौड़ा जा रहा है। किसी के जूते कड़े हो गये हैं, उनमें तेल डालने के लिए तेली के घर भागा जाता है। जल्दी-जल्दी बैलों को सानी-पानी दे दें। ईदगाह से लौटते-लौटते दोपहर हो जायेगा। तीन कोस का पैदल रास्ता, फिर सैकड़ों आदमियों से मिलना-भेंटना। दोपहर के पहले लौटना असंभव है। लड़के सबसे ज़्यादा प्रसन्न हैं। किसी ने एक रोजा रखा है, वह भी दोपहर तक, किसी ने वह भी नहीं; लेकिन ईदगाह जाने की खुशी उनके हिस्से की चीज़ है। रोजे बड़े-बूढ़ों के लिए होंगे। इनके लिए तो ईद है। रोज ईद का नाम रटते थे। आज वह आ गयी। अब जल्दी पड़ी है कि लोग ईदगाह क्यों नहीं चलते। इन्हें गृहस्थी की चिंताओं से क्या प्रयोजन! सेवैयों के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवैयाँ खायेंगे। वह क्या जानें कि अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाय। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खजाना निकालकर गिनते हैं और खुश होकर फिर रख लेते हैं। महमूद गिनता है, एक-दो, दस-बारह! उसके पास बारह पैसे हैं। मोहसिन के पास एक, दो, तीन, आठ, नौ, पन्द्रह पैसे हैं। इन्हीं अनगिनती पैसों में अनगिनती चीज़ें लायेंगे—खिलौने, मिठाइयाँ, बिगुल, गेंद और जाने क्या-क्या। और सबसे ज़्यादा प्रसन्न है हामिद। वह चार-पाँच साल का गरीब-सूरत, दुबला-पतला लड़का, जिसका बाप गत वर्ष हैजे की भेंट हो गया और माँ न जाने क्यों पीली होती-होती एक दिन मर गयी। किसी को पता न चला, क्या बीमारी है। कहती भी तो कौन सुननेवाला था। दिल पर जो कुछ बीतती थी, वह दिल ही में सहती थी और जब न सहा गया तो संसार से बिदा हो गयी। अब हामिद अपनी बूढ़ी दादी अमीना की

गोद में सोता है और उतना ही प्रसन्न है। उसके अब्बाजान रुपये कमाने गये हैं। बहुत-सी थैलियाँ लेकर आयेंगे। अम्मीजान अल्लाह मियाँ के घर से उसके लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीज़ें लाने गयी हैं; इसलिए हामिद प्रसन्न है। आशा तो बड़ी चीज़ है और फिर बच्चों की आशा! उनकी कल्पना तो राई का पर्वत बना लेती है। हामिद के पाँव में जूते नहीं हैं, सिर पर एक पुरानी-धुरानी टोपी है, जिसका गोटा काला पड़ गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। जब उसके अब्बाजान थैलियाँ और अम्मीजान नियामतें लेकर आयेंगी, तो वह दिल के अरमान निकाल लेगा। तब देखेगा महमूद, मोहसिन, नूरे और सम्मी कहाँ से उतने पैसे निकालेंगे! अभागिन अमीना अपनी कोठरी में बैठी रो रही है। आज ईद का दिन और उसके घर में दाना नहीं! आज आबिद होता तो क्या इसी तरह ईद आती और चली जाती! इस अन्धकार और निराशा में वह डूबी जा रही है। किसने बुलाया था इस निगोड़ी ईद को! इस घर में उसका काम नहीं; लेकिन हामिद! उसे किसी के मरने-जीने से क्या मतलब? उसके अंदर प्रकाश है, बाहर आशा। विपत्ति अपना सारा दल-बल लेकर आये, हामिद की आनन्द-भरी चितवन उसका विध्वंस कर देगी।

हामिद भीतर जाकर दादी से कहता है—तुम डरना नहीं अम्माँ, मैं सबसे पहले आऊँगा। बिलकुल न डरना।

अमीना का दिल कचोट रहा है। गाँव के बच्चे अपने-अपने बाप के साथ जा रहे हैं। हामिद का बाप अमीना के सिवा और कौन है! उसे कैसे अकेले मेले जाने दे! उस भीड़-भाड़ में बच्चा कहीं खो जाय तो क्या हो! नहीं, अमीना उसे यों न जाने देगी। नन्हीं-सी जान! तीन कोस चलेगा कैसे! पैर में छाले पड़ जायेंगे। जूते भी तो नहीं हैं? वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसे गोद ले लेगी; लेकिन यहाँ सेंवैयाँ कौन पकायेगा? पैसे होते तो लौटते-लौटते सब सामग्री जमा करके चटपट बना लेती। यहाँ तो घण्टों चीज़ें जमा करते लगेंगे। माँगे ही का तो भरोसा ठहरा। उस दिन फहीमन के कपड़े सिये थे। आठ आने पैसे मिले थे। उस

अठन्नी को ईमान की तरह बचाती चली आती थी इसी ईद के लिए; लेकिन कल ग्वालन सिर पर सवार हो गयी तो क्या करती ! हामिद के लिए कुछ नहीं है, तो दो पैसे का दूध तो चाहिए ही। अब तो कुल दो आने पैसे बच रहे हैं। तीन पैसे हामिद की जेब में, पाँच अमीना के बटवे में। यही तो बिसात है और ईद का त्योहार ! अल्लाह ही बेड़ा पार लगाये। धोबन और नाइन और मेहतरानी और चूड़िहारिन सभी तो आयेंगी। सभी को सेंवैयाँ चाहिए और थोड़ा किसी की आँखों नहीं लगता। किस-किस से मुँह चुरायेगी। और मुँह क्यों चुराये ? साल भर का त्योहार है। जिन्दगी खैरियत से रहे, उनकी तकदीर भी तो उसी के साथ है। बच्चे को खुदा सलामत रखे, ये दिन भी कट जायँगे।

गाँव से मेला चला। और बच्चों के साथ हामिद भी जा रहा था। कभी सब-के-सब दौड़कर आगे निकल जाते। फिर किसी पेड़ के नीचे खड़े होकर साथवालों का इन्तजार करते। ये लोग क्यों इतना धीरे-धीरे चल रहे हैं ? हामिद के पैरों में तो जैसे पर लग गये हैं। वह कभी थक सकता है ? शहर का दामन आ गया। सड़क के दोनों ओर अमीरों के बगीचे हैं। पक्की चार-दीवारी बनी हुई है। पेड़ों में आम और लीचियाँ लगी हुई हैं। कभी-कभी कोई लड़का कंकड़ी उठाकर आम पर निशाना लगाता है। माली अन्दर से गाली देता हुआ निकलता है। लड़के वहाँ से एक फर्लांग पर हैं। खूब हँस रहे हैं। माली को कैसा उल्लू बनाया है !

बड़ी-बड़ी इमारतें आने लगीं। यह अदालत है, यह कालेज है, यह क्लबघर है। इतने बड़े कालेज में कितने लड़के पढ़ते होंगे। सब लड़के नहीं हैं जी। बड़े-बड़े आदमी हैं, सच। उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। इतने बड़े हो गये, अभी तक पढ़ते जाते हैं। न जाने कब तक पढ़ेंगे और क्या करेंगे इतना पढ़कर। हामिद के मदरसे में दो-तीन बड़े-बड़े लड़के हैं, बिलकुल तीन कौड़ी के, रोज मार खाते हैं, काम से जी चुरानेवाले। इस जगह भी उसी तरह के लोग होंगे और क्या। क्लबघर में जादू होता है। सुना है, यहाँ मुरदे की खोपड़ियाँ दौड़ती हैं। और बड़े-बड़े तमाशे

होते हैं, पर किसी को अन्दर नहीं जाने देते। और यहाँ शाम को साहब लोग खेलते हैं। बड़े-बड़े आदमी खेलते हैं, मूँछों-दाढ़ीवाले और मेमें भी खेलती हैं, सच। हमारी अम्माँ को वह दे-दो, क्या नाम है, बैट, तो उसे पकड़ ही न सकें। घुमाते ही लुढ़क न जायँ।

महमूद ने कहा—हमारी अम्मीजान का तो हाथ काँपने लगे, अल्ला कसम।

मोहसिन बोला—चलो, मनों आटा पीस डालती हैं। जरा-सा बैट पकड़ लेंगी, तो हाथ काँपने लगेंगे? सैकड़ों घड़े पानी रोज निकालती हैं। पाँच घड़े तो तेरी भैंस पी जाती है। किसी मेम को एक घड़ा पानी भरना पड़े तो आँखों तले अँधेरा आ जाय।

महमूद—लेकिन दौड़तीं तो नहीं, उछल-कूद तो नहीं सकतीं।

मोहसिन—हाँ, उछल-कूद नहीं सकतीं; लेकिन उस दिन मेरी गाय खुल गयी थी और चौधरी के खेत में जा पड़ी थी, तो अम्मा इतना तेज दौड़ीं कि मैं उन्हें पा न सका, सच!

आगे चले। हलवाइयों की दूकानें शुरू हुईं। आज खूब सजी हुई थीं। इतनी मिठाइयाँ कौन खाता है? देखो न, एक-एक दूकान पर मनों होंगी। सुना है, रात को जिन्नात आकर खरीद ले जाते हैं। अब्बा कहते थे कि आधी रात को एक आदमी हर दूकान पर जाता है और जितना माल बचा होता है, वह तुलवा लेता है और सचमुच के रुपये देता है, बिलकुल ऐसे ही रुपये।

हामिद को यकीन न आया—ऐसे रुपये जिन्नात को कहाँ से मिल जायेंगे?

मोहसिन ने कहा—जिन्नात को रुपये की क्या कमी? जिस खजाने में चाहें चले जायें। लोहे के दरवाजे तक उन्हें नहीं रोक सकते जनाब, आप हैं किस फेर में! हीरे-जवाहरात तक उनके पास रहते हैं। जिससे खुश हो गये, उसे टोकरों जवाहरात दे दिये। अभी यहीं बैठे हैं, पाँच मिनट में कलकत्ता पहुँच जायँ।

हामिद ने फिर पूछा—जिन्नात बहुत बड़े-बड़े होते होंगे?

मोहसिन—एक-एक आसमान के बराबर होता है जी। जमीन पर खड़ा हो जाय तो उसका सिर आसमान से जा लगे, मगर चाहे तो एक लोटे में घुस जाय।

हामिद—लोग उन्हें खुश करते होंगे ? कोई मुझे वह मन्तर बता दे, तो एक जिन्न को खुश कर लूँ।

मोहसिन—अब यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन चौधरी साहब के काबू में बहुत जिन्नात हैं। कोई चीज़ चोरी जाय चौधरी साहब उसका पता लगा देंगे और चोर का नाम भी बता देंगे। जुमराती का बछवा उस दिन खो गया था। तीन दिन हैरान हुए, कहीं न मिला। तब झख मारकर चौधरी के पास गये। चौधरी ने तुरन्त बता दिया, मवेशीखाने में है, और वहीं मिला। जिन्नात आकर उन्हें सारे जहान की खबरें दे जाते हैं।

अब उसकी समझ में आ गया कि चौधरी के पास क्यों इतना धन है, और क्यों उनका इतना सम्मान है।

आगे चले। यह पुलिस लाइन है। यहीं सब कानिसटिबिल कवायद करते हैं। रैटन ! फाय फो ! रात को बेचारे घूम-घूमकर पहरा देते हैं, नहीं चोरियाँ हो जायँ। मोहसिन ने प्रतिवाद किया—यह कानिसटिबिल पहरा देते हैं ! तभी तुम बहुत जानते हो। अजी हजरत, यही चोरी कराते हैं। शहर के जितने चोर-डाकू हैं, सब इनसे मिलते हैं, रात को ये लोग चोरों से तो कहते हैं, चोरी करो और आप दूसरे मुहल्ले में जाकर 'जागते रहो ! जागते रहो !' पुकारते हैं। जभी इन लोगों के पास इतने रुपये आते हैं। मेरे मामूँ एक थाने में कानिसटिबिल हैं। बीस रुपया महीना पाते हैं; लेकिन पचास रुपये घर भेजते हैं। अल्ला कसम। मैंने एक बार पूछा था कि मामूँ, आप इतने रुपये कहाँ से पाते हैं ? हँसकर कहने लगे—बेटा, अल्लाह देता है। फिर आप ही बोले—हम लोग चाहें तो एक दिन में लाखों मार लायें। हम तो इतना ही लेते हैं, जिसमें अपनी बदनामी न हो और नौकरी न चली जाय।

हामिद ने पूछा—यह लोग चोरी करवाते हैं तो कोई इन्हें पकड़ता नहीं ?

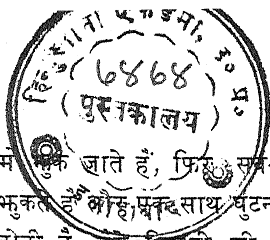
मोहसिन उसकी नादानी पर दया दिखाकर बोला—अरे पागल, इन्हें कौन पकड़ेगा ? पकड़नेवाले तो यह लोग खुद हैं; लेकिन अल्लाह इन्हें सजा भी खूब देता है। हराम का माल हराम में जाता है। थोड़े ही दिन हुए मामूँ के घर आग लग गयी। सारी लेई-पूँजी जल गयी। एक बरतन तक न बचा। कई दिन पेड़ के नीचे सोये, अल्ला कसम, पेड़ के नीचे। फिर न जाने कहाँ से एक सौ कर्ज लाये तो बरतन-भाँड़े आये।

हामिद—एक सौ तो पचास से ज्यादा होते हैं ?

"कहाँ पचास, कहाँ एक सौ। पचास एक थैली-भर होता है। सौ तो दो थैलियों में भी न आये।"

अब बस्ती घनी होने लगी थी। ईदगाह जानवालों की टोलियाँ नजर आने लगीं। एक-से-एक भड़कीले वस्त्र पहने हुए। कोई इक्के-ताँगे पर सवार, कोई मोटर पर, सभी इत्र में बसे, सभी के दिलों में उमंग। ग्रामीणों का यह छोटा-सा दल, अपनी विपन्नता से बेख़बर, सन्तोष और धैर्य में मगन चला जा रहा था। बच्चों के लिए नगर की सभी चीज़ें अनोखी थीं। जिस चीज़ की ओर ताकते, ताकते ही रह जाते। और पीछे से बार-बार हार्न की आवाज होने पर भी न चेतते। हामिद तो मोटर के नीचे जाते-जाते बचा।

सहसा ईदगाह नज़र आया। ऊपर इमली के घने वृक्षों की छाया है। नीचे पक्का फर्श है, जिस पर जाजिम बिछा हुआ है। और रोज़ेदारों की पंक्तियाँ एक के पीछे एक न जाने कहाँ तक चली गयी हैं, पक्की जगत के नीचे तक, जहाँ जाजिम भी नहीं है। नये आनेवाले आकर पीछे की कतार में खड़े हो जाते हैं। आगे जगह नहीं है। यहाँ कोई धन और पद नहीं देखता। इस्लाम की निगाह में सब बराबर हैं। इन ग्रामीणों ने भी वज़ू किया और पिछली पंक्ति में खड़े हो गये। कितना सुन्दर संचालन है, कितनी सुन्दर व्यवस्था ! लाखों सिर एक साथ सिजदे



में झुक जाते हैं, फिर सब-के-सब एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ झुकते हैं और एक साथ घुटनों के बल बैठ जाते हैं। कई बार यही क्रिया होती है, जैसे बिजली की लाखों बत्तियाँ एक साथ प्रदीप्त हों और एक साथ बुझ जायँ, और यही क्रम चलता रहे। कितना अपूर्व दृश्य था, जिसकी सामूहिक क्रियाएँ, विस्तार और अनन्तता हृदय को श्रद्धा, गर्व और आत्मानन्द से भर देती थीं, मानो भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोये हुए है।

(२)

नमाज़ खत्म हो गयी है। लोग आपस में गले मिल रहे हैं। तब मिठाई और खिलौने की दूकानों पर धावा होता है। ग्रामीणों का यह दल इस विषय में बालकों से कम उत्साही नहीं है। यह देखो, हिंडोला है। एक पैसा देकर चढ़ जाओ। कभी आसमान पर जाते हुए मालूम होगे, कभी जमीन पर गिरते हुए। यह चर्खी है, लकड़ी के हाथी, घोड़े, ऊँट छड़ों से लटके हुए हैं। एक पैसा देकर बैठ जाओ और पच्चीस चक्करों का मजा लो। महमूद और मोहसिन और नूरे और सम्मी इन घोड़ों और ऊँटों पर बैठते हैं। हामिद दूर खड़ा है। तीन ही पैसे तो उसके पास हैं। अपने कोष का एक तिहाई जरा-सा चक्कर खाने के लिए वह नहीं दे सकता।

सब चर्खियों से उतरते हैं। अब खिलौने लेंगे। इधर दूकानों की कतार लगी हुई है। तरह-तरह के खिलौने हैं—सिपाही और गुजरिया, राजा और वकील, भिश्ती और धोबिन और साधू। वाह! कितने सुन्दर खिलौने हैं। अब बोला ही चाहते हैं। महमूद सिपाही लेता है, खाकी वर्दी और लाल पगड़ीवाला, कन्धे पर बन्दूक रखे हुए। मालूम होता है, अभी कवायद किये चला आ रहा है। मोहसिन को भिश्ती पसन्द आया। कमर झुकी हुई है, ऊपर मशक रखे हुए है। मशक का मुँह एक हाथ से पकड़े हुए है। कितना प्रसन्न है! शायद कोई गीत गा रहा है। बस, मशक से पानी उँड़ेला ही चाहता है। नूरे को वकील से प्रेम है। कैसी

विद्वत्ता है उनके मुख पर ! काला चुग़ा, नीचे सफेद अचकन, अचकन के सामने की जेब में घड़ी, सुनहरी जंजीर, एक हाथ में कानून का पोथा लिये हुए। मालूम होता है, अभी अदालत से जिरह या बहस किये चले आ रहे हैं। यह सब दो-दो पैसे के खिलौने हैं। हामिद के पास कुल तीन पैसे हैं, इतने मँहगे खिलौने वह कैसे ले ? खिलौना कहीं हाथ से छूट पड़े, तो चूर-चूर हो जाय। जरा पानी पड़े तो सारा रंग घुल जाय। ऐसे खिलौने लेकर वह क्या करेगा, किस काम के !

मोहसिन कहता है—मेरा भिश्ती रोज पानी दे जायगा; साँझ-सबेरे।

महमूद—और मेरा सिपाही घर का पहरा देगा। कोई चोर आयेगा, तो फौरन बन्दूक फैर कर देगा।

नूरे—और मेरा वकील खूब मुकदमा लड़ेगा।

सम्मी—और मेरी धोबिन रोज कपड़े धोयेगी।

हामिद खिलौनों की निन्दा करता है—मिट्टी ही के तो हैं, गिरें तो चकनाचूर हो जायँ; लेकिन ललचाई हुई आँखों से खिलौनों को देख रहा है। और चाहता है कि जरा देर के लिए उन्हें हाथ में ले सकता। उसके हाथ अनायास ही लपकते हैं; लेकिन लड़के इतने त्यागी नहीं होते, विशेष-कर जब अभी नया शौक है। हामिद ललचता रह जाता है।

खिलौने के बाद मिठाइयाँ आती हैं। किसी ने रेवड़ियाँ ली हैं, किसी ने गुलाब जामुन, किसी ने सोहन हलवा। मजे से खा रहे हैं। हामिद बिरादरी से पृथक् है। अभागे के पास तीन पैसे हैं। क्यों नहीं कुछ लेकर खाता ? ललचायी आँखों से सबकी ओर देखता है !

मोहसिन कहता है—हामिद, रेवड़ी ले जा, कितनी खुशबूदार है !

हामिद को सन्देह हुआ, यह केवल क्रूर विनोद है, मोहसिन इतना उदार नहीं है; लेकिन यह जानकर भी वह उसके पास जाता है। मोहसिन दोने से एक रेवड़ी निकालकर हामिद की ओर बढ़ाता है। हामिद हाथ फैलाता है। मोहसिन रेवड़ी अपने मुँह में रख लेता है। महमूद, नूरे और सम्मी खूब तालियाँ बजा-बजाकर हँसते हैं। हामिद खिसिया जाता है।

मोहसिन—अच्छा, अबकी जरूर देंगे हामिद, अल्ला कसम, ले जा।

हामिद—रखे रहो। क्या मेरे पास पैसे नहीं हैं?

सम्मी—तीन ही पैसे तो हैं। तीन पैसे में क्या-क्या लोगे?

महमुद—हमसे गुलाब जामुन ले जाव हामिद। मोहसिन बदमाश है।

हामिद—मिठाई कौन बड़ी नेमत है। किताब में इसकी कितनी बुराइयाँ लिखी हैं।

मोहसिन—लेकिन दिल में कह रहे होगे कि मिले तो खा लें। अपने पैसे क्यों नहीं निकालते?

महमूद—हम समझते हैं इसकी चालाकी। जब हमारे सारे पैसे खर्च हो जायेंगे, तो हमें ललचा-ललचाकर खायेगा।

मिठाइयों के बाद कुछ दूकानें लोहे की चीजों की हैं, कुछ गिलट और कुछ नकली गहनों की। लड़कों के लिए यहाँ कोई आकर्षण न था। वह सब आगे बढ़ जाते हैं। हामिद लोहे की दूकान पर रुक जाता है। कई चिमटे रखे हुए थे। उसे ख्याल आया, दादी के पास चिमटा नहीं है। तवे से रोटियाँ उतारती हैं, तो हाथ जल जाता है; अगर वह चिमटा ले जाकर दादी को दे दे, तो वह कितनी प्रसन्न होंगी! फिर उनकी उँगलियाँ कभी न जलेंगी। घर में एक काम की चीज़ हो जायगी। खिलौने से क्या फायदा। व्यर्थ में पैसे खराब होते हैं। जरा देर ही तो खुशी होती है। फिर तो खिलौने को कोई आँख उठाकर नहीं देखता। या तो घर पहुँचते-पहुँचते टूट-फूट बराबर हो जायँगे। चिमटा कितने काम की चीज है। रोटियाँ तवे से उतार लो, चूल्हे में सेंक लो। कोई आग माँगने आये तो चटपट चूल्हे से आग निकालकर उसे दे दो। अम्माँ बेचारी को कहाँ फुरसत है कि बाजार आयें, और इतने पैसे ही कहाँ मिलते हैं। रोज हाथ जला लेती हैं। हामिद के साथी आगे बढ़ गये हैं। सबील पर सब-के-सब शर्बत पी रहे हैं। देखो, सब कितने लालची हैं! इतनी मिठाइयाँ लीं, मुझे किसी ने एक भी न दी। उस पर कहते हैं, मेरे साथ खेलो। मेरा यह काम करो। अब अगर किसी ने कोई काम करने

को कहा, तो पूछूँगा। खायँ मिठाइयाँ, आप मुँह सड़ेगा, फोड़े-फुन्सियाँ निकलेंगी, आप ही जबान चटोरी हो जायगी। तब घर से पैसे चुरायेंगे और मार खायेंगे। किताब में झूठी बातें थोड़े ही लिखी हैं। मेरी जबान क्यों खराब होगी? अम्माँ चिमटा देखते ही दौड़कर मेरे हाथ से ले लेंगी और कहेंगी—मेरा बच्चा अम्माँ के लिए चिमटा लाया है! हजारों दुआएँ देंगी। फिर पड़ोस की औरतों को दिखायेंगी। सारे गाँव में चरचा होने लगेगी, हामिद चिमटा लाया है। कितना अच्छा लड़का है। इन लोगों के खिलौने पर कौन इन्हें दुआएँ देगा? बड़ों की दुआएँ सीधे अल्लाह के दरबार में पहुँचती हैं, और तुरन्त सुनी जाती हैं। मेरे पास पैसे नहीं हैं। तभी तो मोहसिन और महमूद यों मिज़ाज दिखाते हैं। मैं भी इनसे मिज़ाज दिखाऊँगा। खेलें खिलौने और खायें मिठाइयाँ। मैं नहीं खेलता खिलौने, किसी का मिज़ाज क्यों सहूँ? मैं गरीब सही, किसी से कुछ माँगने नहीं जाता? आखिर अब्बाजान कभी-न-कभी आयेंगे। अम्माँ भी आयेंगी। फिर इन लोगों से पूछूँगा, कितने खिलौने लोगे? एक-एक को टोकरियों खिलौने दूँ और दिखा दूँ कि दोस्तों के साथ इस तरह सलूक किया जाता है। यह नहीं कि एक पैसे की रेवड़ियाँ लीं तो चिढ़ा-चिढ़ाकर खाने लगे। सब-के-सब खूब हँसेंगे कि हामिद ने चिमटा लिया है। हँसें! मेरी बला से। उसने दूकानदार से पूछा—यह चिमटा कितने का है?

दूकानदार ने उसकी ओर देखा और कोई आदमी साथ न देखकर कहा—वह तुम्हारे काम का नहीं है जी!

'बिकाऊ है कि नहीं?''

'बिकाऊ क्यों नहीं, है। और यहाँ क्यों लाद लाये हैं?'

'तो बताते क्यों नहीं, कै पैसे का है?'

'छः पैसे लगेंगे।'

हामिद का दिल बैठ गया।

'ठीक ठीक बताओ!'

'ठीक-ठीक पाँच पैसे लगेंगे, लेना हो लो, नहीं चलते बनो।'

हामिद ने कलेजा मजबूत करके कहा——तीन पैसे लोगे ?

यह कहता हुआ वह आगे बढ़ गया कि दूकानदार की घुड़कियाँ न सुने। लेकिन दूकानदार ने घुड़कियाँ नहीं दीं। बुलाकर चिमटा दे दिया। हामिद ने उसे इस तरह कन्धे पर रखा, मानों बन्दूक है और शान से अकड़ता हुआ संगियों के पास आया। जरा सुनें, सब-के-सब क्या-क्या आलोचनाएँ करते हैं।

मोहसिन ने हँसकर कहा——यह चिमटा क्यों लाया पगले! इसे क्या करेगा ?

हामिद ने चिमटे को जमीन पर पटककर कहा——जरा अपना भिश्ती जमीन पर गिरा दो। सारी पसलियाँ चूर-चूर हो जायँ बच्चा की।

महमूद बोला——यह चिमटा कोई खिलौना है!

हामिद——खिलौना क्यों नहीं है ? अभी कन्धे पर रखा, बन्दूक हो गयी। हाथ में ले लिया, फकीरों का चिमटा हो गया। चाहूँ तो इससे मजीरे का काम ले सकता हूँ। एक चिमटा जमा दूँ तो तुम लोगों के सारे खिलौनों की जान निकल जाय। तुम्हारे खिलौने कितने ही जोर लगायें, मेरे चिमटे का बाल भी बाँका नहीं कर सकते। मेरा बहादुर शेर है——चिमटा।

सम्मी ने खँजरी ली थी। प्रभावित होकर बोला——मेरी खँजरी से बदलोगे ? दो आने की है।

हामिद ने खँजरी की ओर उपेक्षा से देखा——मेरा चिमटा चाहे तो तुम्हारी खँजरी का पेट फाड़ डाले। बस, एक चमड़े की झिल्ली लगा दी, ढब-ढब बोलने लगी। जरा-सा पानी लग जाय तो खतम हो जाय। मेरा बहादुर चिमटा आग में, पानी में, आँधी में, तूफान में बराबर डटा खड़ा रहेगा।

चिमटे न सभी को मोहित कर लिया; लेकिन अब पैसे किसके पास धरे हैं! फिर मेले से दूर निकल आये हैं, नौ कब के बज गये, धूप तेज हो रही है। घर पहुँचने की जल्दी हो रही है। बाप से जिद भी

करें, तो चिमटा नहीं मिल सकता। हामिद है बड़ा चालाक। इसीलिए बदमाश ने अपने पैसे बचा रखे थे।

अब बालकों के दो दल हो गये हैं। मोहसिन, महमूद, सम्मी और नूरे एक तरफ हैं, हामिद अकेला दूसरी तरफ। शास्त्रार्थ हो रहा है। सम्मी तो विधर्मी हो गया। दूसरे पक्ष से जा मिला; लेकिन मोहसिन, महमूद और नूरे भी, हामिद से एक-एक, दो-दो साल बड़े होने पर भी हामिद के आघातों से आतंकित हो उठे हैं। उसके पास न्याय का बल है और नीति की शक्ति। एक ओर मिट्टी है, दूसरी ओर लोहा, जो इस वक्त अपने को फौलाद कह रहा है। अजेय है, घातक है। अगर कोई शेर आ जाय, तो मियाँ भिश्ती के छक्के छूट जायँ, मियाँ सिपाही मिट्टी की बन्दूक छोड़कर भागें, वकील साहब की नानी मर जाय, चुगे में मुँह छिपाकर जमीन पर लेट जायें। मगर यह चिमटा, यह बहादुर, यह रुस्तमे-हिन्द लपककर शेर की गरदन पर सवार हो जायगा और उसकी आखें निकाल लेगा।

मोहसिन ने एड़ी-चोटी का जोर लगाकर कहा—अच्छा, पानी तो नहीं भर सकता।

हामिद ने चिमटे को सीधा खड़ा करके कहा—भिश्ती को एक डाँट बतायेगा, तो दौड़ा हुआ पानी लाकर उसके द्वार पर छिड़कने लगेगा।

मोहसिन परास्त हो गया; पर महमूद ने कुमक पहुँचाई—अगर बच्चा पकड़ जायें तो अदालत में बँधे-बँधे फिरेंगे। तब तो वकील साहब के ही पैरों पड़ेंगे।

हामिद इस प्रबल तर्क का जवाब न दे सका। उसने पूछा—हमें पकड़ने कौन जायेगा?

नूरे ने अकड़कर कहा—यह सिपाही बन्दूकवाला।

हामिद ने मुँह चिढ़ाकर कहा—यह बेचारे हम बहादुर रुस्तमे-हिन्द को पकड़ेंगे! अच्छा लाओ, अभी जरा कुश्ती हो जाय। इसकी सूरत देखकर दूर से भागेंगे। पकड़ेंगे क्या बेचारे!

मोहसिन को एक नयी चोट सूझ गयी—तुम्हारे चिमटे का मुँह रोज आग में जलेगा।

उसने समझा था कि हामिद लाजवाब हो जायगा; लेकिन यह बात न हुई। हामिद ने तुरन्त जबाब दिया—आग में बहादुर ही कूदते हैं। जनाब, तुम्हारे यह वकील, सिपाही और भिश्ती लेंडियों की तरह घर में घुस जायेंगे। आग में कूदना वह काम है, जो यह रुस्तमे-हिन्द ही कर सकता है।

महमूद ने एक जोर और लगाया—वकील साहब कुरसी-मेज पर बैठेंगे, तुम्हारा चिमटा बावरचीखाने में जमीन पर पड़ा रहेगा।

इस तर्क ने सम्मी और नूरे को भी सजीव कर दिया। कितने ठिकाने की बात कही है पट्ठे ने। चिमटा बावरचीखाने में पड़े रहने के सिवा और क्या कर सकता है।

हामिद को कोई फड़कता हुआ जबाब न सूझा तो उसने धाँधली शुरू की—मेरा चिमटा बावरचीखाने में नहीं रहेगा। वकील साहब कुरसी पर बैठेंगे, तो जाकर उन्हें जमीन पर पटक देगा और उनका कानून उनके पेट में डाल देगा।

बात कुछ बनी नहीं। खासी गाली-गलौज थी; लेकिन कानून को पेट में डालनेवाली बात छा गयी। ऐसी छा गयी कि तीनों सूरमा मुँह ताकते रह गये, मानों कोई धेलचा कंकौआ किसी गण्डेवाले कंकौए को काट गया हो। कानून मुँह से बाहर निकलनेवाली चीज़ है। उसको पेट के अन्दर डाल दिया जाये, बेतुकी-सी बात होने पर भी कुछ नयापन रखती है। हामिद ने मैदान मार लिया। उसका चिमटा रुस्तमे-हिन्द है। अब इसमें मोहसिन, महमूद, नूरे, सम्मी किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती।

विजेता को हारनेवालों से जो सत्कार मिलना स्वाभाविक है, वह हामिद को भी मिला। औरों ने तीन-तीन, चार-चार आने पैसे खर्च किये पर कोई काम की चीज न ले सके। हामिद ने तीन पैसे में रंग जमा लिया। सच ही तो है, खिलौनों का क्या भरोसा? टूट-फूट जायँगे। हामिद का चिमटा तो बना रहेगा बरसों।

सन्धि की शर्तें तय होने लगीं। मोहसिन ने कहा——जरा अपना चिमटा दो, हम भी देखें। तुम हमारा भिश्ती लेकर देखो।

महमूद और नूरे ने भी अपने-अपने खिलौने पेश किये।

हामिद को इन शर्तों के मानने में कोई आपत्ति न थी। चिमटा बारी-बारी से सबके हाथ में गया, और उनके खिलौने बारी-बारी से हामिद के हाथ में आये। कितने खूबसूरत खिलौने हैं!

हामिद ने हारने वालों के आँसू पोंछे——तुम्हें चिढ़ा रहा था, सच। यह लोहे चिमटा भला इन खिलौनों की क्या बराबरी करेगा; मालूम होता है, अब बोले, अब बोले।

लेकिन मोहसिन की पार्टी को इस दिलासे से सन्तोष नहीं होता। चिमटे का सिक्का खूब बैठ गया है। चिपका हुआ टिकट अब पानी से नहीं छुट रहा।

मोहसिन——लेकिन इन खिलौनों के लिए कोई हमें दुआ तो न देगा?

महमूद——दुआ को लिये फिरते हो। उलटे मार न पड़े। अम्माँ जरूर कहेंगी कि मेले में यही मिट्टी के खिलौने तुम्हें मिले?

हामिद को स्वीकार करना पड़ा कि खिलौनों को देखकर किसी की माँ इतनी खुश न होगी, जितनी दादी चिमट को देखकर होंगी। तीन पैसों ही में तो उसे सब कुछ करना था, और उन पैसों के इस उपयोग पर पछतावे की बिलकुल जरूरत न थी। फिर अब तो चिमटा रुस्तमे-हिन्द है और सभी खिलौनों का बादशाह।

रास्ते में महमूद को भूख लगी। उसके बाप ने केले खाने को दिये। महमूद ने केवल हामिद को साझी बनाया। उसके अन्य मित्र मुँह ताकते रह गये। यह उस चिमटे का प्रसाद था।

(३)

ग्यारह बजे सारे गाँव में हलचल मच गयी। मेलेवाले आ गये। मोहसिन की छोटी बहन ने दौड़कर भिश्ती उसके हाथ से छीन लिया और मारे खशी के जो उछली, तो मियाँ भिश्ती नीचे आ रहे और सुरलोक

सिधारे। इस पर भाई-बहन में मार-पीट हुई। दोनों खूब रोये। उनकी अम्माँ यह शोर सुनकर बिगड़ीं और दोनों को ऊपर से दो-दो चाँटे और लगाये।

मियाँ नूरे के वकील का अन्त उनके प्रतिष्ठानुकूल इससे ज़्यादा गौरवमय हुआ। वकील जमीन पर या ताक पर तो नहीं बैठ सकता। उसकी मर्यादा का विचार तो करना ही होगा। दीवार में दो खूँटियाँ गाड़ी गयीं। उनपर लकड़ी का एक पटरा रखा गया। पटरे पर कागज का कालीन बिछाया गया। वकील साहब राजा भोज की भाँति सिंहासन पर बिराजे। नूरे ने उन्हें पंखा झलना शुरू किया। अदालतों में खस की टट्टियाँ और बिजली के पंखे रहते हैं। क्या यहाँ मामूली पंखा भी न हो! कानून की गर्मी दिमाग पर चढ़ जायगी कि नहीं। बाँस का पंखा आया और नूरे हवा करने लगे। मालूम नहीं, पंखे की हवा से, या पंखे की चोट से वकील साहब स्वर्गलोक से मृत्युलोक में आ रहे और उनका माटी का चोला माटी में मिल गया! फिर बड़े जोर-शोर से मातम हुआ और वकील साहब की अस्थि घूरे पर डाल दी गयी।

अब रहा महमूद का सिपाही। उसे चटपट गाँव का पहरा देने का चार्ज मिल गया; लेकिन पुलिस का सिपाही कोई साधारण व्यक्ति तो नहीं, जो अपने पैरों चले। वह पालकी पर चलेगा। एक टोकरी आयी, उसमें कुछ लाल रंग के फटे-पुराने चिथड़े बिछाये गये, जिसमें सिपाही साहब आराम से लेटें। नूरे ने यह टोकरी उठायी और अपने द्वार का चक्कर लगाने लगे। उनके दोनों छोटे भाई सिपाही की तरफ से 'छोनेवाले, जागते लहो' पुकारते हैं। मगर रात तो अँधेरी होनी ही चाहिए; महमूद को ठोकर लग जाती है। टोकरी उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ती है और मियाँ सिपाही अपनी बन्दूक लिये जमीन पर आ जाते हैं और उनकी एक टाँग में विकार आ जाता है। महमूद को आज ज्ञात हुआ कि वह अच्छा डॉक्टर है। उसको ऐसा मरहम मिल गया है, जिससे वह टूटी टाँग को आनन-फानन जोड़ सकता है। केवल गूलर का दूध चाहिए। गूलर का

दूध आता है। टाँग जोड़ दी जाती है; लेकिन सिपाही को ज्यों ही खड़ा किया जाता है, टाँग जबाव दे देती है। शल्यक्रिया असफल हुई, तब उसकी दूसरी टाँग भी तोड़ दी जाती है। अब कम-से-कम एक जगह आराम से बैठ तो सकता है। एक टाँग से तो न चल सकता था, न बैठ सकता था। अब वह सिपाही संन्यासी हो गया है। अपनी जगह पर बैठा-बैठा पहरा देता है। कभी-कभी देवता भी बन जाता है। उसके सिर का झालरदार साफा खुरच दिया गया है। अब उसका जितना रूपान्तर चाहो, कर सकते हो। कभी-कभी तो उससे बाट का काम भी लिया जाता है।

अब मियाँ हामिद का हाल सुनिए। अमीना उसकी आवाज सुनते ही दौड़ी और उसे गोद में उठाकर प्यार करने लगी। सहसा उसके हाथ में चिमटा देखकर वह चौंकी।

'यह चिमटा कहाँ था?'

'मैंने मोल लिया है।'

'कै पैसे में?'

'तीन पैसे दिये।'

अमीना ने छाती पीट ली। यह कैसा बेसमझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या, चिमटा! सारे मेले में तुझे और कोई चीज़ न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया?

हामिद ने अपराधी-भाव से कहा—तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं; इसलिए मैंने इसे लिया।

बुढ़िया का क्रोध तुरन्त स्नेह में बदल गया, और स्नेह भी वह नहीं, जो प्रगल्भ होता है और अपनी सारी कसक शब्दों में बिखेर देता है। यह मूक स्नेह था, खूब ठोस, रस और स्वाद से भरा हुआ। बच्चे में कितना त्याग, कितना सद्भाव और कितना विवेक है! दूसरों को खिलौने लेते और मिठाई खाते देखकर इसका मन कितना ललचाया होगा। इतना जब्त इससे हुआ कैसे! वहाँ भी इसे अपनी बुढ़िया दादी की याद बनी रही। अमीना का मन गद्गद् हो गया।

और अब एक बड़ी विचित्र बात हुई। हामिद के इस चिमटे से भी विचित्र। बच्चे हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गयी। वह रोने लगी। दामन फैलाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें गिराती जाती थीं। हामिद इसका रहस्य क्या समझता !

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। 'ईदगाह' कहानी की विशेषताओं को प्रस्तुत कीजिए॥
२। हामिद का चरित्र-चित्रण कीजिये।

सच्ची वीरता

सरदार पूर्णसिंह

[हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में सरदार पूर्णसिंह एक नई लाक्षणिक शैली के निर्माता हैं। इनके निबन्धों में विचारों और भावों का शैली के साथ अनूठे ढंग से संमिश्रण हो जाता है। भाषा और भाव की एक नई विभूति इन्होंने हमारे सामने रखी है। इनके निबन्धों में चिन्तन की गंभीरता, विचारों की तल्लीनता और निरूपण की निपुणता परिलक्षित होती है।

पूर्णसिंहजी सीमाप्रान्त के ऐबटाबाद जिले के एक गाँव के रहने वाले थे। आपने जापान जाकर व्यावहारिक रसायन-शास्त्र का अध्ययन किया था। वहीं आप स्वामी रामतीर्थ के सम्पर्क में आए और पूरे वेदान्ती बन गए। आपके निबन्ध भाव-प्रधान अधिक हैं। आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से ही आपने लिखना प्रारंभ किया था। अबतक आपके लिखे पाँच निबन्धों का पता चला है। वे हैं:—

(१) कन्यादान, (२) पवित्रता, (३) आचरण की सभ्यता, (४) सच्ची वीरता, (५) मजदूरी और प्रेम।]

सच्चे वीर पुरुष धीर, गम्भीर और आजाद होते हैं। उनके मन की गम्भीरता और शान्ति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चञ्चल नहीं होते। रामायण में वाल्मीकि जी ने कुम्भकर्ण की गाढ़ी नींद में वीरता का एक चिन्ह दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरों की नींद आसानी से नहीं खुलती। वे सत्त्वगुण के क्षीर समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गर्जते हैं, तब सदियों तक उनकी आवाज की गूँज सुनाई देती रहती है, और सब आवाजें बन्द हो जाती हैं। वीर की चाल की आहट कानों में आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मदमत्त करती है। कभी

किसी की और कभी किसी की प्राण-सारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

सत्त्वगुण के समुद्र में जिनका अन्तःकरण निमग्न हो गया, वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र-जीवन को परित्याग कर ऐसा ऐश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिए संसार के सब अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राजतिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क बर्क सिंहासन पर बैठनेवाले दुनिया के राजाओं को तो, जो गरीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिण्डोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। ये जरी, मखमल और जेवरों से लदे हुए मांस के पुतले तो हरदम काँपते रहते हैं। क्यों न हो, इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती। दुनिया के राजाओं के बल की दौड़ लोगों के शरीर तक है।

एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह गुलाम कैदी दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा——मैं तुमको अभी जान से मार डालूँगा। तुम क्या कर सकते हो? गुलाम बोला—हाँ, मैं फाँसी पर तो चढ़ जाऊँगा; पर तुम्हारा तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ। जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार! जिनका बल शरीर को जरा-सी रस्सी से लटकाकर मान देने भर ही का है, भला उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओं का क्या मुकाबिला, जिनका सिंहासन लोगों के हृदय-कमल की पंखुड़ियों पर है? सच्चे राजा अपने प्रेम के जोर से लोगों के दिल सदा के लिये बाँध देते हैं। दिलों पर हुकूमत करनेवाले वे फौज, तोप, बन्दूक आदि के बिना ही शाहंशाह-जमाना होते हैं।

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दरबार में आये। वे लोग रोजगार की तलाश में थे। अकबर ने कहा——"अपनी-अपनी वीरता का सुबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की! वीरता का भला वे क्या सुबूत देते? परन्तु

दोनों ने तलवारें निकाल लीं और एक दूसरे के सामने उनकी तेज धार पर दौड़ गये और वहीं राजा के सामने क्षण भर में अपने खून में ढेर हो गये।

ऐसे दैवी वीर रुपया, पैसा, माल, धन का दान नहीं दिया करते। जब वे दान देने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको हवन कर देते हैं। बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिससे मृग बच जाय, बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय। ऐसे लोग कभी बड़े मौकों का इन्तजार नहीं करते, छोटे मौकों को ही बड़ा बना देते हैं।

अपने-आपको हर घड़ी और हर पल महान् से भी महान् बनान का नाम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात है। असल वीर तो इन कारनामों को अपनी दिनचर्या में लिखते भी नहीं। पेड़ तो जमीन से रस ग्रहण करने में लगा रहता है। उसे यह ख्याल ही नहीं होता कि मुझमें कितने फल या फूल लगेंगे और कब लगेंगे। उसका काम तो अपने आपको सत्य में रखना है—सत्य को अपने अंदर कूट-कूटकर भरना है और अन्दर ही अन्दर बढ़ना है। उसे इस चिन्ता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायगा या मैंने कितने फल लोगों को दिये ?

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लड़ने मरने में, खून बहाने में, तलवार-तोप के सामने जान गँवाने में होता है। कभी प्रेम के मैदान में उसका झण्डा खड़ा होता है। कभी जीवन के गूढ़ तत्त्व सत्य की तलाश में बुद्ध जैसे राजा विरक्त होकर वीर हो जाते हैं। कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परन्तु वीरता एक प्रकार का इलहाम या दैवी प्रेरणा है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया; एक नया जलाल पैदा हुआ; एक नई रौनक, एक नया रंग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता संसार में छा गई। वीरता हमेशा निराली और नई होती है। नयापन भी वीरता का एक खास रंग है। हिन्दुओं के पुराणों की

वह आलंकारिक कल्पना जिससे पुराणकारों ने ईश्वरावतारों को अजीब-अजीब और भिन्न-भिन्न वेष दिये हैं, सच्ची मालूम होती है, क्योंकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नहीं सकता। वीरता की कभी नकल नहीं हो सकती; जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नहीं ले सकता। वीरता देश-काल के अनुसार संसार में जब कभी प्रकट हुई, तभी एक नया स्वरूप लेकर आई, जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित हो गये—कुछ वन न पड़ा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्ति पूजते हैं। इस मूर्ति का दर्शन वे चेरी के फूल की शान्त हँसी में करते हैं। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है! वीरता सदा जोश से भरा हुआ ही उपदेश नहीं करती। वह कभी-कभी हृदय की कोमलता का भी दर्शन कराती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है; ऐसी सुन्दरता देखकर लोग मोहित हो जाते हैं। जब कोमलता और सुन्दरता के रूप में वह दर्शन देती है, तब चेरी फूल से भी ज्यादा नाजुक और मनोहर होती है।

वीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सबका मन हो जाता है। उसके ख्याल सबके ख्याल हो जाते हैं। सबके संकल्प उसके संकल्प हो जाते हैं। उसका बल सबका बल हो जाता है। वह सबका और सब उसके हो जाते हैं।

वीरों के बनाने के कारखाने कायम नहीं हो सकते। वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य से खुद-बखुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिये, बिना किसी के दूध पिलाये, बिना किसी के हाथ लगाये, तैयार होते हैं। दुनिया के मैदान में अचानक ही सामने आकर वे खड़े हो जाते हैं। उनका सारा जीवन भीतर-ही-भीतर होता है। बाहर तो जवाहिरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि में नहीं आता। वीर की जिन्दगी मुश्किल से कभी-कभी बाहर नजर आती है। नहीं तो उसका स्वभाव छिपे रहने का है। वह लाल गुदड़ियों के भीतर

छिपा रहता है। कन्दराओं में, गह्वरों में, छोटी-छोटी झोपड़ियों में बड़े-बड़े वीर महात्मा छिपे रहते हैं।

कायर पुरुष कहते हैं—"आगे बढ़े चलो।" वीर कहते हैं—"पीछे हटे चलो।" कायर कहते हैं—"उठाओ तलवार"। वीर कहते हैं—"सिर आगे करो।"

वीर का जीवन प्रकृति ने अपनी शक्तियों को फिजूल खो देने के लिए नहीं बनाया है। वीर पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताकतों का भण्डार है।

वह वीर क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गरम और झट ठण्डा हो जाता है। सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही गरम हो और हजारों बर्ष बर्फ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठण्डी हो। उसे खुद गर्म और सर्द होने से क्या मतलब? बाबर के सिपाहियों ने और लोगों के साथ गुरु नानक को भी बेगारी में पकड़ लिया। उनके सिर पर बोझ रखा और कहा—"चलो।" आप चल पड़े। दौड़, धूप, बोझ, मुसीबत, बेगार में पकड़ी हुई स्त्रियों का रोना, शरीफ लोगों का दुःख, गाँव के गाँव जलना—सब किस्म की दुखदाई बातें हो रही हैं। मगर किसी का कुछ असर नहीं हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"सारंगी बजाओ, हम गाते हैं"। उस भीड़ में सारंगी बज रही है और आप गा रहे हैं। वाह री शान्ति!

जय वहीं होती है जहाँ कि पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी है कि जिस मुर्ग ने बाँग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमों पर खड़ी है। जो अपने आपको उन नियमों के साथ अभिन्नता करके खड़ा हुआ वह विजयी हो गया। आज-कल लोग कहते हैं कि काम करो, काम करो। पर हमें तो ये बातें निरर्थक मालूम होती हैं। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अन्दर ही अन्दर वृक्ष की तरह बढ़ो। क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों के लेखों में हैं? जहाँ इन्होंने रंग बदला कि हमारे वीरों के रंग बदले, ओठ सूखे और वीरता की आशाएँ टूट गईं।

प्यारे, अन्दर के केन्द्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चञ्चलता में अपने आपको न खो दो। वीर नहीं तो वीरों के अनुगामी हो और वीरता के काम नहीं तो धीरे-धीरे अपने अन्दर वीरता के परमाणुओं को जमा करो।

जब हम कभी वीरों का हाल सुनते हैं तब हमारे अन्दर भी वीरता की लहरें उठती हैं और वीरता का रंग चढ़ जाता है। परन्तु वह चिरस्थायी नहीं होता। इसका कारण सिर्फ यही है कि हमारे भीतर वीरता का मसाला तो होता नहीं; हम सिर्फ ख़्याली महल उसके दिखलाने के लिए बनाना चाहते हैं। टीन के बर्तन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केन्द्र में निवास करो और सचाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। अपनी जिन्दगी किसी और के हवाले करो ताकि जिन्दगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी वक्त जाया न हो। इसलिए बाहर की सतह को छोड़कर जीवन के अन्दर की तहों में घुस जाओ; तब नये रंग खिलेंगे। द्वेष और भेद दृष्टि छोड़ो; रोना छूट जायगा। प्रेम और आनन्द से काम लो; शांति की वर्षा होने लगेगी और दुखड़े दूर हो जायँगे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। लेखक ने सच्चे वीर की जो विशषताएँ आँकी हैं, उन्हें आप अपने शब्दों में लिखिये।

२। स्पष्ट कीजिये :—

(१) सच्चे वीर पुरुष धीर, गंभीर और आज़ाद होते हैं।

(२) वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है।

(३) जय वहीं होती है जहाँ कि पवित्रता और प्रेम है।

(४) सच्चे वीर सत्त्वगुण के समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती।

अध्ययन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

[स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ समालोचक और निबन्धकार माने जाते हैं। आप गंभीर चिंतक और प्रखर विद्वान थे। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के आचार्य एवम् अध्यापक थे। आपने "काशी नागरी प्रचारिणी सभा" के "हिन्दी शब्द-सागर" का सम्पादन किया।

'चिन्तामणि' आपके मनोवैज्ञानिक लेखों का संग्रह है, जिसपर आपको १२००) का मंगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था। सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी गई आपकी आलोचनाओं का हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में बड़ा मान है। आपका "हिन्दी-साहित्य का इतिहास" आज सर्वश्रेष्ठ इतिहास ग्रंथ है, जिसपर आपको 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' की ओर से ५००) का पुरस्कार मिला था। आप सुकवि भी थे। "बुद्ध-चरित' आपकी काव्य-कृति है।

प्रमुख रचनाएँ :—

हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिन्तामणि भाग १ और २, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, त्रिवेणी आदि।]

यदि हम चाहते हैं कि कोई ऐसा चसका लगे जो प्रत्येक दशा में हमारा सहारा हो और जीवन में हमें आनन्द और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचावे, चाहे हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रूठा हो, तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चसका लगावें। अध्ययन की रुचि से जो लाभ हैं, वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साधन के लिए अध्ययन किया जाता है वे इतने ही नहीं हैं, इनसे अधिक हैं और इनसे उच्च भी हैं। आत्म-संस्कार सम्बन्धी पुस्तक में अध्ययन को केवल एक रुचि की ही बात कह देना ठीक नहीं, उसे परम कर्तव्य निश्चित

करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और बड़े धर्म के अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है।

यह ठीक है कि बहुत-से ऐसे कर्मण्य पुरुष हुए हैं जो बड़े काम कर गए हैं, पर वे लिखना-पढ़ना न जानते थे। बहुत-से लोग हो गए हैं जिनके पठन-पाठन वा मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति उनकी प्रज्ञा की प्रतिभा, अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि यदि वे पढ़े-लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती तो सम्भव है वे और भी अधिक उत्तम कार्य कर सकते। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय और आचरण आदि के सम्बन्ध में जो नियम ठहराये जाते हैं वे ऐसे इक्के दुक्के लोगों के लिए नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं।

आत्म-संस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अंग है। हमारे लिए किसी जाति के उस साहित्य में प्रगति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं, जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभा-सम्पन्न पुरुषों ने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढ़ना नहीं जानता उसे भूत काल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी-सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार। उसे उस भांडार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढ़ियों से संचित होता आया है।

एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी न थी तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकालीं और उन्हें यह समझकर कागज पर लिख लिया कि मैंने बड़े भारी आविष्कार किये। कुछ दिनों के उपरान्त जब वह एक बड़े पुस्तकालय में गया तब उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से

अपने आविष्कार समझे हुए था वे साधारण छात्रों को ज्ञात, पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं।

विद्या के प्रत्येक विभाग में यही दशा उसकी होती है जो पढ़ता नहीं। मनुष्य की अन्वेषणा और विचार-परम्परा ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच चुकी है इसकी उसे खबर नहीं रहती। उसके लिए उसके पूर्व का काल अन्धकारमय है। न जाने कितने लोग हो गए, कैसे-कैसे विचार कर गए, पर उसे क्या? वह तो जो सामने देखता है वही जानता है और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह से देख भी नहीं सकता। वह अपने ही फैलाये हुए अन्धकार में गिरता-पड़ता है, टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों में भटकता फिरता है, वह यह नहीं जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौड़ा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहाँ हम पढ़ने के दो-एक अत्यन्त प्रत्यक्ष लाभों की ओर ध्यान दिलाते हैं। यह विषय जैसा उपयुक्त है वैसा ही मनोरंजक भी है। पहली बात तो यह है कि पढ़ने से इतिहास और काव्य में हमारी गति होती है भूत काल की घटनाएँ हमारे हृदय में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इनके द्वारा हमें संसार के बड़े-बड़े राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है।

पढ़ने से हमें विदित होता है कि किस प्रकार मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनों के लिए रुकता, कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता, कभी दूसरे स्थान पर बटुरता हुआ, कभी कुछ दिनों के लिए उथला और छिछला पड़कर फिर अनिवार्य वेग के साथ बढ़ता, गम्भीर होता हुआ अखण्ड हो, अन्ततः आगे ही बढ़ता आया है और उसने अपनी सुख-समृद्धि रूप विजय का प्रसार किया।

हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को सहकर कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को झेलकर जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है जिसका फल यह हुआ है कि प्रत्येक सभ्य देश के गरीब आदमी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख-चैन से हैं। हम जानते हैं कि किस प्रकार संसार की अनेक क्रूर और धर्म-भाव-शून्य जातियाँ बौद्ध-

धर्म ग्रहण करने को तैयार हुईं, किस प्रकार बौद्ध-धर्म का प्रभाव और प्रचार बढ़ा तथा उससे मनुष्यों के रहन-सहन में कितना शुभ परिवर्तन हुआ।

पुस्तकों में हम देखते हैं कि किस प्रकार प्रताप और शक्ति एक जाति से निकलकर दूसरी जाति में जाती है, उनसे यह भी पता लगता है कि किन-किन कारणों से और किन-किन दशाओं में ऐसा होता है। भारतवर्ष, पारस, काबुल, मिश्र, यूनान, रोम जो अब नाम-ही-नाम को रह गए हैं, कल्पना में जिनके प्रताप और महत्व की धुँधली छाया-मात्रा शेष रह गई है, पुस्तकों के द्वारा वे हमें अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं और हम उनकी यथार्थ स्थिति के समझने में समर्थ होते हैं। इन प्राचीन देशों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तब हम दिनों के फेर को सोचते हैं, भाग्य की चंचलता को सोचते हैं और व्यक्ति के जीवन-क्रम तथा एक जाति के भाग्य-क्रम के बीच जो विलक्षण समानता है उस पर विचार करते हैं।

जो विद्याभ्यासी पुरुष पढ़ता है और पुस्तकों से प्रेम रखता है, संसार में उसकी स्थिति चाहे कितनी ही बुरी क्यों न हो उसे साथियों का अभाव नहीं खल सकता। उसकी कोठरी में सदा ऐसे लोगों का वास रहेगा जो अमर हैं। वे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और उसे समझाने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। कवि, दार्शनिक और विद्वान्, जिन्होंने अपने घोर प्रयत्नों के द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके शान्ति और सुख का तत्त्व निचोड़ा है, बड़े-बड़े महात्मा, जिन्होंने आत्मा के गूढ़ रहस्यों की थाह लगाई है, सदा उसकी सुनने तथा उसकी शंकाओं का समाधान करने के लिए उद्यत रहेंगे।

पढ़ते समय हमें विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन में संचित करते जाना चाहिए, जिसमें हमारे पास ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भाण्डार हो जाय कि उसमें से समय-समय पर जब जैसा अवसर पड़े हम शान्ति, उपदेश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भाण्डार अधिकार में रखना उपयोगी और आनन्दप्रद दोनों है। बहुत-से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जब हमारा

जी टूट जाता है और हमारी शान्ति शिथिल हो जाती है। सोचिए तो कि ऐसे अवसरों पर किसी ऐसे पुरुषार्थी महात्मा के उत्साहपूर्ण वचनों से कितना उत्साह प्राप्त होगा, जिसने कठिन संकट और विघ्न सहे, पर अन्त में अपने अध्यवसाय के बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है––

छाँड़िए न हिम्मत बिसारिए न हरि-नाम।
जाही विधि राखे राम, वाहि विधि रहिए॥

यह प्रयत्न में हताश या दुखी व्यक्ति को कितना धैर्य बँधा सकता है। यदि उसे किसी ऐसे महात्मा के वचन सुनने को मिलें जो दुःख पड़ने पर कहता है––"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा में रहें, हम इस कर्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भोगें, हम इस विपत्ति में पड़ें, हम यह अपमान और ताप सहें। ईश्वर की जैसी इच्छा! ईश्वर की यही इच्छा है, हम या संसार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिए परम धर्म है।"

बहुत-से अवसर आते हैं जब दूसरों की इच्छा के अनुसार कार्य करना, दूसरों की अधीनता स्वीकार करना, अभिमानी युवकों को बड़ा कड़वा जान पड़ता है। ऐसे अवसर पर यदि वे इस बात का स्मरण कर लें तो बहुत ही अच्छा हो, कि संसार में जितने बड़े-बड़े विजयी हुए हैं वे आज्ञा मानने में वैसे ही तत्पर थे जैसे आज्ञा देने में। बहुत-से ऐसे अवसर आते हैं जब सत्य के मार्ग पर स्थित रहने की उचित दृढ़ता हमें नहीं सूझती और हम चटपट आवेश में आकर काम करना चाहते हैं। ऐसे अवसरों पर हमें गिरिधर कविराय की इस चेतावनी का स्मरण करना चाहिए––

बिना बिचारे जो करे सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय॥

अस्तु, पढ़ने का एक लाभ तो यह हुआ कि उससे हम समय पड़ने पर शिक्षा, उत्साह और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें लेकर जीवन के भीषण संग्राम में

हम अपनी थाप रख सकते हैं। उससे हमें उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्यों की उत्तेजना मिलती है।

पढ़ने का बड़ा भारी अलभ्य और मनोहर लाभ यह है कि उससे चित्त शुभ भावनाओं और प्रौढ़ विचारों से पूर्ण हो जाता है। जब कभी जी चाहे मनुष्य चुपचाप बैठ जाय और जो कुछ उसने पढ़ा हो उसका चिंतन करता हुआ उपयोगी और आनन्दप्रद विचारों की धारा में मग्न हो जाय, इसके लिए उसे किसी प्रकार के बाहरी आधार की आवश्यकता नहीं।

खाली बैठे रहने के समय--जैसे रेल, नौका आदि की यात्रा में--हमारे लिए यह एक अच्छा लाभकारी मानसिक व्यायाम हुआ है कि हम किसी अच्छे ग्रन्थकार की कोई पुस्तक उठा लें और उसकी बातों, उसकी चमत्कार-पूर्ण उक्तियों को तथा उसके मनोहर दृष्टान्तों को हृदय में इस क्रम से धारण करते जायँ कि जब अवसर पड़े तब हम उन्हें उपस्थित कर सकें। हृदय का यह भण्डार ऐसा होगा जो कभी खाली न होगा, दिन-दिन बढ़ता जायेगा। इस प्रकार हृदय में संचित किये हुए भाव और दृष्टान्त मोतियों के समान होंगे जिनकी आभा कभी नष्ट व क्षीण न होगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। अध्ययन से क्या लाभ हैं? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
२। हमें पुस्तकों का किस प्रकार अध्ययन करना चाहिए कि वे जीवन-यात्रा में उपयोगी हो सकें?
३। 'पुस्तकालय' पर एक निबन्ध लिखिए।

आलस्य और दृढ़ता

डॉ० श्यामसुन्दरदास

[हिन्दी भाषा के प्रचार और हिन्दी साहित्य के उद्धार का जो स्तुत्य कार्य डॉ० श्यामसुन्दरदास ने किया है वह अन्यतम है। हिन्दी भाषा के दो बृहद् कोशों का आपने सम्पादन किया। हिन्दी की उच्च कक्षाओं की पढ़ाई के लिए आपने आलोचना, भाषा-विज्ञान, नाट्य-शास्त्र आदि पर उच्च कोटि के मौलिक पाठ्यग्रंथों की रचना की। "काशी नागरी प्रचारिणी सभा" की स्थापना कर उसके द्वारा आपने हिन्दी का सर्वतोमुखी विकास किया। आपकी अनन्य हिन्दी सेवाओं से प्रसन्न होकर उस समय की ब्रिटिश सरकार ने 'रायबहादुर', हिन्दू विश्वविद्यालय काशी ने 'डी० लिट्०', तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधियों से आपको विभूषित किया। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के आचार्य एवम् अध्यापक थे।

आपकी रचनाओं में विचारों की गहनता और शैली की गंभीरता नजर आती है। आप शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। आप संस्कृत के तत्सम शब्दों का विशेष प्रयोग करते थे।

प्रमुख रचनाएँ :—

साहित्यालोचन, रूपक रहस्य, भाषा-विज्ञान, हिन्दी भाषा और साहित्य, भाषा-रहस्य आदि।]

युवा पुरुषों के लिए इससे अच्छा कोई दूसरा उपदेश नहीं है कि 'कभी आलस्य न करो।' यह एक ऐसा उपदेश है जिसके लिए इच्छा को दृढ़ करने की अधिक आवश्यकता होती है। लोगों को इस बात का ध्यान बालपन ही से रखना चाहिए कि समय व्यर्थ न जाय। यह तभी हो सकता है, जब सारे काम नियम से और उचित समय पर किये जायँ। जो युवा पुरुष नित्य किसी काम में कुछ समय लगाता है, वह कभी चूक नहीं सकता। रहा इस बात का निर्णय करना कि किस काम में कितना समय लगाना

चाहिए, सो यह उस कार्य पर और उसके करनेवाले पर निर्भर है। आवश्यकता केवल इतनी है कि चाहे कितना ही थोड़ा समय किसी कार्य में क्यों न दिया जाय, पर वह बराबर वैसा ही हुआ करे; उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए।

मान लिया जाय कि प्रतिदिन एक काम के लिए एक घण्टे का समय लगाया जा सकता है। अब पहले-पहल तो यह बहुत थोड़ा जान पड़ेगा, परन्तु वर्ष के अन्त में इसका फल अधिक दीख पड़ेगा; जैसे एक छोटा-सा बीज देखने में कितनी छोटी वस्तु है, पर उसे बो देने से और समय पर पानी देते रहने से वह एक बड़ा-सा पेड़ हो जाता है और उसमें फल-फूल लग जाते हैं। एक उपाय को मन में स्थिर करके उसी के अनुसार प्रतिदिन नियम के साथ काम करने ही से वह काम पूरा हो सकता है।

किसी काम के करने में एक साथ ही शीघ्रता करने लगना, और फिर उसे छोड़कर दूसरे काम में लग जाना ऐसा ही व्यर्थ और निष्फल है जैसा आलस्य करना। एक आलसी मनुष्य उस घरवाले के समान है, जो अपना घर चोरों के लिए खुला छोड़ देता है। वह पुरुष बड़ा ही भाग्यवान् है, जो यों कहता है कि "मुझे व्यर्थ के कामों के लिए छुट्टी नहीं है, क्योंकि मैं बिना किसी आवश्यक काम के समय को नष्ट नहीं करता। प्रयोजन बिना मुझे कोरी बकबक अच्छी नहीं लगती। काम में लगे रहने से मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है और जब मैं अपना काम पूरा कर लेता हूँ, तो जानता हूँ कि किस रीति से एक काम के अनन्तर विश्राम करके दूसरे काम में लग जाना होता है।" ऐसे ही मनुष्य उन्नति कर सकते हैं।

आलस्य के दूर करने का बहुत ही सरल उपाय यह है कि यह बात भली-भाँति समझ ली जाय कि बिना हाथ-पैर हिलाये संसार का कोई काम नहीं हो सकता। संसार के विषय में लोग जो चाहें कहें, परन्तु यह स्थान समय को नष्ट करने का नहीं है। ऐसे स्थान में जहाँ पर सब लोग अपने-अपने काम-काज में लगे हुए हैं, आलस्य करने से केवल नाश ही होगा, लाभ नहीं हो सकता।

किसी विद्वान का कथन है कि "जीवन थोड़ा है, गुण अनन्त हैं; अवसर हाथ से निकल जाते हैं, परख पूर्ण रीति से नहीं हो सकती और वस्तुओं के विषय में बुद्धि स्थिर नहीं है।" बस, प्रत्येक मनुष्य को इन उपदेशों पर ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से वह सदा सचेत बना रहेगा और अपने अमूल्य समय को आलस्य से नष्ट न करेगा।

किसी काम में दृढ़ता के साथ लगे रहने से ही मनुष्य संसार में यथार्थ गौरव पा सकता और सब कामों को सफलता के साथ कर सकता है; परन्तु वह मनुष्य किसी योग्य नहीं जो अपने कामों को मन लगाकर दृढ़ता के साथ नहीं करता।

प्रसिद्ध अँगरेज़ कवि वर्ड्स्वर्थ अपनी यात्रा के वर्णन में यों लिखता है—"जब आकाश में मेघ दीखते और मुझे पहाड़ के ऊपर जाना होता तो मैं अपने विचार से कुछ इस कारण पलट न जाता कि पहाड़ के ऊपर जाने पर यदि पानी बरसने लगेगा तो मुझे कष्ट होगा; वरन् यह सोचकर कि अपने विचार के अनुसार दृढ़ता के साथ कार्य न करने से मेरे चरित्र में धब्बा लगेगा, मैं आँधी-पानी की कुछ भी आशंका न करता और पहाड़ पर चला जाता।" यह कैसी बुद्धिमानी का विचार है। हम ऐसे संसार में नहीं रहा चाहते, जहाँ के मनुष्य थोड़ी-थोड़ी-सी तुच्छ बातों से डर जायँ; क्योंकि संसार में अगणित कठिनाइयाँ हैं, जिनको दूर करके अपने काम के करने ही में बुद्धिमानी है।

एक समय कोई मनुष्य एक ऊँचे पहाड़ पर चढ़ने लगा। जब वह उस स्थान के निकट पहुँचा जिसको उस पहाड़ की चोटी समझे हुए था या जहाँ तक जाने का उसका विचार था, तो उसको विदित हुआ कि मुख्य चोटी अभी दो मील ऊपर है और आगे का मार्ग बड़ा ऊँचा-नीचा और बीहड़ है, जिसपर थक जाने के कारण वह कठिनता से चल सकता था ; पर यह कोई ऐसी बात न थी, जिससे वह पहाड़ की चोटी तक न जा सके। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि पहाड़ की चोटी पर कोहरा गिर रहा था और सूर्य के अस्त होने में केवल एक घण्टा था। यह

देखकर वह शीघ्रता से नीचे उतर आया। पर देखो, दूसरे दिन वह क्या करता है? सबेरा होते ही वह पहाड़ पर चढ़ने लगा और अन्त में उसकी मुख्य चोटी पर जा बैठा। ऐसे ही मनुष्य जिस काम को अपने हाथ में लेते हैं, उसे पूरा करके छोड़ते हैं। इसलिए कभी किसी कठिनाई को देखकर तुम साहस को न छोड़ो, विशेषकर जब तुमने अभी उस काम का आरम्भ ही नहीं किया है।

एक लोकोक्ति है कि आरम्भ में सभी काम कठिन होते हैं और फिर जो काम जितना अच्छा होगा, उसका करना उतना ही कठिन होगा और अच्छे काम ही करने योग्य होते हैं। इस संसार में, जहाँ पर परिश्रम प्रधान वस्तु है, दृढ़ और पक्का मन ही सब कामों को कर सकता है। वह मनुष्य संसार में कभी नहीं सुखी हो सकता, जो पासे को इसलिए पटक मारता है कि पहली बार पासा डालने ही में वह नहीं जीत गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। जीवन-संग्राम में कौन विजयी बन सकता है और किस प्रकार? प्रमाण देकर उत्तर लिखिये।

२। सिद्ध कीजिये कि आलस्य सर्वनाश की जड़ है।

३। निबन्ध लिखिये:—

जो सोवत है सो खोवत है,
जो जागत है सो पावत है।

सैर का मूल्य

श्री गुलाबराय

[श्री गुलाबराय हिन्दी के सुप्रसिद्ध निबन्धकार, समालोचक और सम्पादक हैं। आप एक सफल अध्यापक एवम् सरल प्रकृति के सज्जन हैं। साथ ही साथ साहित्य और दर्शन-शास्त्र के प्रकांड पंडित भी हैं। विविध विषयों पर लिखित आपके लेख नियमित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आप 'साहित्य-सन्देश' के यशस्वी सम्पादक हैं। गुलाबरायजी हिन्दी साहित्य के भंडार को अपने अमूल्य ग्रंथ-रत्नों द्वारा कई वर्षों से भरते चले आ रहे हैं। हिन्दी साहित्य की विशेष सेवा करने के लिए ईश्वर आपको दीर्घायु करे।

प्रमुख रचनाएँ :—

काव्य के रूप, सिद्धान्त और अध्ययन, हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, नवरस, प्रबंध प्रभाकर आदि।]

चोरी चित्त की भी होती है और वित्त की भी। यद्यपि साहित्यिक लोग चित्त की चोरी को अधिक महत्ता देते हैं, तथापि मैं आपको वित्त की ही बात सुनाऊँगा; लेकिन घबड़ाइए नहीं ऐसी बात नहीं कहूँगा जिसमें आपको दिल थामने की जरूरत पड़े। अपनी करुणा का उद्रेक फिर किसी दिन के लिए सुरक्षित रखिए।

मेरा नुकसान तो थोड़ा नहीं था। 'मुर्गी के लिए तकुए का ही घाव बहुत होता है'; किन्तु उस पर सम्मोहन कला-विशारद परम भिषगाचार्य महाकालदेव समय के जादू भरे हाथ का सर्व संकट-हरण स्पर्श हो चुका है। यह बात इतनी पुरानी हो गई है कि सन्-संवत् भी भूल चुका हूँ। शायद १९२७-२८ का जमाना था। तब तक मैं अनाथ नहीं हुआ था, मेरे माता-पिता जिन्दा थे। वैसे भी मैं नौकरी की नाथ से नथा हुआ था। उन

दिनों में छतरपुर राज्य के निजी आमात्य (Private Secretary) के गौरवान्वित पद को अपने अकार्य-कुशल अस्तित्व से लज्जित कर रहा था। मालूम नहीं कालिदास ने किस भावना से प्रेरित होकर मेघदूत लिखा था, किन्तु मेरा अनुमान है कि वे किसी राज्य में नौकर रहे होंगे, और उन्हें छुट्टी न मिली होगी, तभी उनके हृदय में मेघ को दूत बना कर अलकापुरी नहीं, तो काश्मीर (जहाँ के वे रहने वाले बतलाये जाते हैं) भेजने की कल्पना जाग्रत हुई होगी। मेरे आश्रयदाता स्वर्गीय हिज़ हाइनेस राजर्षि सर विश्वनाथसिंह जू देव बड़े उदार थे, लेकिन छुट्टी देने में उतने ही कृपण भी थे। और चीज़ें तो बिना माँगे ही मिल जाती थीं, क्योंकि मेरा संकल्प था कि सिवाय छुट्टी के और कुछ न माँगूगा, किन्तु मौत की भाँति छुट्टी माँगने पर नहीं मिलती थी। नौकरी के स्वर्ण-पिञ्जर में बन्द कीर-सी मेरी स्वच्छन्द आत्मा विवशता से छटपटाया करती।

मेरे जीवन में वह अवस्था आ चुकी थी जब क्षुद्र नदी की भाँति खल लोग बौरा उठते हैं और उनके हृदय में वैभव और विलास की इच्छा उठने लगती है। जलेसर के मकान के लिए थोड़ा कर्जा लिया था वह अदा हो चुका था। बुन्देलखण्ड ऐसी फिजूलखर्चों-प्रूफ जगह है कि वहाँ धन-संग्रह के लिए बेईमानी की भी जरूरत नहीं पड़ती। कुछ वणिक-जाति की स्वाभाविक व्यवसाय बुद्धि, कुछ स्त्री के आभूषण-प्रेम और कुछ कन्या के विवाह की दूरदर्शिता से मैंने पूरे पैंतालिस तोला सोना खरीद लिया था। चार-पाँच सौ रुपया भी पास-बुक में था, हृदय में जवानी की उमंग थी। जब छतरपुर में बहुत से अँग्रेज दम्पतियों को सैर के लिए आते देखता था तब मैं भी सोचने लगता था कि मैंने ही राम के कौन से बैल मारे हैं जो इस सुख से वञ्चित रहूँ। महाराज के साथ सैर की थी किन्तु उसमें सपरिवार होने का सुख और गौरव कहाँ? दूसरे की अधीनता में सुख का उपभोग आत्म-भाव की तुष्टि नहीं करता। महाराज के साथ का सफर महाराज के लिए सैर था किन्तु मेरे लिए घोर-कठोर कर्त्तव्य था। बुद्ध गया में पंडों के सुफल बोलने के भाव-ताव में इतना भी समय न मिल

सका कि बुद्ध मंदिर देखने की चिरसाध को पूरा कर सकता---मेरे पितृचरण वर्तमान थे, इसलिए गया में मेरी और कोई उद्देश्य-पूर्ति भी न थी। वैसे भी वे मेरी नास्तिकता में विश्वास रखते थे। इसलिए उन्होंने अपनी गया आप ही कर ली थी। अस्तु।

ठाट-बाट के साथ सपरिवार बाहर जाने का सुअवसर देखने लगा। मेरठ से मेरी धर्मपत्नी की भतीजी की शादी का निमंत्रण आया, वह उपेक्षणीय न था। यद्यपि काम के नाम तो मैं फली भी नहीं फाड़ता तथापि मेरी उपस्थिति वहाँ वांछनीय थी।

छुट्टी के लिए खींच-तान होने लगी; महाराज साहब के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसी मुहूर्त के लिए रुके हुए से जान पड़े।

नरेशों की चाकराधीनता, जिसके बल में अपना स्थान सुरक्षित समझता था मुझे अखरने लगी। दीवान साहब पण्डित सुखदेवबिहारी मिश्र के मेरे कार्य के अपने ऊपर ले लेने के वचन देने पर (ऊँचे पद वाले नीचे पद वाले की एवजीदारी बहुत कम करते हैं, किन्तु 'कभी नाव पर लढ़ी और कभी लढ़ी पर नाव' के न्याय से उन्होंने यह कार्य स्वीकार किया था) मुझे छुट्टी मिली।

मैं तो "अष्टकपाली दारिद्री जब चाले तब सिद्ध" का मानने वाला था, किन्तु महाराज साहब सायत के उपासक थे। उन्होंने स्नेहवश मेरे लिए भी सायत देखने का कष्ट किया। मेरे लिए चौथा चन्द्रमा था जो यात्रा के लिए अनिष्टकर समझा जाता है। लेकिन स्वतन्त्रता के आवेश में चौथे चन्द्रमा तो क्या, आठवें चन्द्रमा की बात नहीं मानता। मैंने समझा मेरे रोकने के लिए बहाना ढूँढ़ा गया है। मैं बालक तो न था, किन्तु अवस्था के हिसाब से महाराज के सामने बालक ही था। मेरे बाल-हठ के सामने महाराज का राज-हठ न चला क्योंकि मेरी धर्मपत्नीजी मायके जाने की प्रसन्नता में तिरिया-हठ का संयोग दे रही थीं।

परमेश्वर के घर तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं किन्तु छतरपुर से अपने घर पहुँचने के दो ही रास्ते थे---एक सीधा आगरा होकर और दूसरा

फेरफार का, कानपुर होकर। आगरे का रास्ता घर की मुर्गी की तरह (मैं मुर्गियाँ नहीं पालता हूँ) आकर्षणहीन हो गया था। नवीनता के उपासक के लिए जब "सैर कर दुनियाँ की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहाँ ? जिन्दगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?" की उमङ्ग हृदयोदधि में विलोड़ित होने लगी तो फिर नये मार्ग से जाने का लोभ संवरण करना कठिन था। उस मार्ग के एक-एक लाभ वृहदाकार धारण कर मेरे सामने आने लगे। कानपुर के लिए महोबा होकर जाना होगा, आल्हा-ऊदल की वीर भूमि के दर्शन होंगे, इतिहास-प्रसिद्ध कीर्तिसागर देखने को मिलेगा। शायद यदि जाना चाहूँ तो रामपद-अङ्कित चित्रकूट की पुण्य-भूमि में भव-ताप-शमन करने का सुअवसर मिल जायगा, नहीं तो उधर के पावन समीर का एकाध झोंका तो लग ही जायगा। कानपुर में पाप-प्रक्षालिनी, कलिमल विध्वंसिनी, पुण्यतोया भागीरथी के निर्मल सलिल में मज्जन और पान का अलभ्य लाभ मिलेगा।

इन सबसे भी बढ़कर एक बात और थी वह यह कि कानपुर में एक सज्जन रहते थे जिनपर मेरे चार हज़ार रुपये की डिगरी थी, और इसके इजारा कराने की कानूनी मियाद तीन चौथाई मेरे सौजन्य और दयाभाव के वश और एक चौथाई आलस्य के कारण जाती रही; किन्तु मेरी समझ में इसकी नैतिक मियाद तब भी बाकी थी। उनका पता-ठिकाना तो इससे अधिक नहीं मालूम था कि वे घी की दूकान करते हैं किन्तु चलते-फिरते उनके दर्शन होने की दूरस्थ सम्भावना अवश्य थी। इस विचार में कुछ अधिक तत्व ही नहीं था किन्तु अपने को धोका देने तथा अपनी फिजूलखर्ची पर उपयोगिता का आवरण डालने के लिए यह ख्याल अच्छा था। उस मार्ग से जाने में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चारों पदार्थ मेरे करतल होने की सम्भावना थी। फिर क्या था? 'सब यानन तें श्रेष्ठ अति द्रुतगतिगामिन कार' का आवाहन हुआ। महोबा की सड़क कुछ खराब थी। वैसे तो उधर जाने के लिए ड्राइवर लोग प्रायः आनाकानी किया करते थे, किन्तु मेरे साथ उनका अकसर मातहती का ही नहीं वरन्

श्रद्धा-भक्ति का भी सम्बन्ध होने के कारण चक्रपाणि ड्राइवर ने भी मना नहीं किया। मालूम नहीं स्वयं विष्णु भगवान् ही मुझे काल के गर्त में लिए जा रहे थे। जाने के लिए मेरा असबाब भी इतना सुडौल बँधा था कि मुझे उसपर गर्व होने लगा। मैं भी अपनी निगाहों में बड़ा जँचने लगा। 'वक्रतुण्ड महाकाय' का स्मरण कर मोटर पर सवार हुआ, और मारुत तुल्य वेग से स्टेशन पहुँचा। स्टेशन पर सामान उतरा और उसके साथ हम लोग भी उतरे। मेरे चाकर राज भी मेरे साथ थे। उन्होंने भोजनादि की सुविधा कर दी। रात को सवार होकर सुबह नौ बजे कानपुर पहुँचे। यद्यपि कानपुर में कई जान-पहचान के लोग थे तथापि उन पर परिवार का भार डालना मैंने नीति-विरुद्ध समझा। सराय और होटल मुसलमानों और अँग्रेजी आधिपत्य के चिन्ह होने के कारण प्राचीनता के धार्मिक संस्कार में पले हुए मनुष्य के लिए वर्ज्य-से थे। "येषा क्वापि गतिर्नास्ति" ऐसे अशरण लोगों को काशी की भाँति शरण देने वाली धर्मशाला का आश्रय लिया गया। धर्मशाला के चुनाव में ब्रह्म-वाक्य और डॉक्टर-वाक्य की तरह ताँगे वाले का वाक्य प्रमाण माना गया।

आनन्दराम की धर्मशाला में मनचाहा स्थान मिल गया। उन कमरों में घर का-सा वातावरण था। दीवारों पर किसी रमणी के माङ्गल्य-सूचक चित्रण से अनुमान होता था कि यहाँ पर किसी का विवाह भी हुआ था। भोजन करके कल्पना-शक्ति कुछ बढ़ जाती है। हाल ही में हम लोगों ने एक कहानी पढ़ी थी, जिसमें एक सज्जन की रेल में चोरी हो गई थी। चोरी के अनुसन्धान में उन्हें एक महीना स्टेशन पर ही ठहरना पड़ा, और उनकी लड़की का विवाह वहाँ के स्टेशन-मास्टर के लड़के से हो गया था। कहानी का चोरी का भाग तो छोड़ दिया और सोचने लगा हमारी लड़की के लिए सुयोग्य वर मिल जाय तो उसका इसी धर्मशाला में विवाह कर सकते हैं, एक विवाह के लिए हमारे पास ट्रंक में पर्याप्त-सा धन था। हम भूल गये थे कि दीवार के भी कान हुआ करते हैं। धन का अस्तित्व बहुत सी बातों को भुला देता है, फिर यह तो जरा सी बात थी।

हम लोग शृङ्गारियों और व्यसनियों की भाँति शाम की प्रतीक्षा करने लगे। पाँच बजते ही एक ताँगा मँगाया गया। उसके लिए हम लोगों की संख्या कुछ अधिक थी, फिर दूसरा और ताँगा मँगाया गया। उनके लिए हम लोगों की संख्या कम थी। सोचा सुख-दुःख के साथी चाकर को भी सैर के लाभ से क्यों वञ्चित रखा जाय। आखिर ताँगे में जगह छोड़ने में कौन-सी बुद्धिमानी है? उस समय कोई मुझसे यह कहने वाला न था "अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिमासि त्वं मे"।

नौकरी की जी उबाने वाली कार्य-प्रणाली से छुट्टी पाने की प्रसन्नता, स्वतन्त्रता के आवेश और सैर के शौक में उन साधारण बातों को भी भूल गया था, जिनका मैं सदा ध्यान रखता था। अपने पसीने की कमाई का घनी-भूत सार मेरे लिए कोहेनूर से भी नयनाभिराम और मूल्यवान् पैंतालिस तोले के स्वर्ण-खण्ड को मैं जी-जान से प्यारा तो नहीं, किन्तु किसी गोपनीय रहस्य की भाँति सुरक्षित रखता था। छतरपुर में उसके कारण घर सूना नहीं छोड़ता था। जिस बक्स में वह द्रव्य रखा जाता था उसका स्पर्श मेरे सर्वतोभद्र और सर्वतोगति विश्वस्त चाकर (उसका नाम भरोसा था) के लिए भी वर्ज्य था। हाँ, तो उस द्वादश-वर्षीय चाकरी-वारिधि की अमूल्य मणि की रक्षा के लिए नौकर भी न छोड़ा। मेरी धर्मपत्नी के मन में शंका की क्षीण रेखा आई थी, वह भी बातों के पारावार में जल की चल लहर और खल की प्रीति की भाँति स्थिर न रह सकी। मेरे कमरे से एक कमरा मिला हुआ था। देवीजी पर कर्तव्यशीलता की धाक जमाने के लिए उसमें भीतर से ताला डाल दिया था। बाहर से भी मजबूत ताले से कमरा सुरक्षित कर दिया। खजाने के प्रहरी की भाँति उसे दो बार खींच कर देख लिया था। इससे अधिक और सावधानी क्या?

मेरे कमरे के दोनों ओर कुछ सज्जन, जो दुग्ध-फेन, चन्द्र-ज्योत्स्ना और गांधीजी के चरित्र तथा यश से भी उज्वल, चन्द्रमा के किरणजाल से भी हलके और झीने तथा गङ्गाजी के प्रातः समीर प्रेरित लघु-लघु लहरियों से उर्मिल (चुन्नटदार) सफेद वाइल के कुर्ते पहने थे, ठहरे हुये थे। उनके गले

में चमकती दमकती स्वर्ण शृंखलाएँ महेश की व्यालमाला की भाँति शोभा दे रही थीं। उनका अस्तित्व रक्षा की गारण्टी था। मैं आशावादी और मानव जाति की श्रेष्ठता में विश्वास करने वाला था, फिर मेरे मन में शंका क्यों स्थान पाती?

हम लोग सैर को चले। क्या देखें और क्या न देखें के सम्बन्ध में भी ताँगे वालों की बात को आप्तवाक्य मानकर उनकी मायारूपिणी इच्छा के वशवर्ती हो यन्त्रारूढ़ की भाँति घूमने लगे। जिसे उन्होंने कह दिया "अवसि देखिए देखन जोगू"—वही हमारे लिए परम दर्शनीय बन गया। उनकी रुचि लोकरुचि की प्रतीक थी।

जब कभी मैं घण्टे के हिसाब से ताँगा किराए पर करता हूँ तभी मुझे Time is money (समय ही धन है) की सत्यता में विश्वास होता है, किन्तु उस समय जब रुपये की परवा न थी, तो उसके पर्याय समय की कब चिन्ता होती? मैं तो अनन्त काल तक घूमता ही रहता। ताँगे वाले का तो एक-एक क्षण दुधार गाय बन रहा था। किन्तु मेरी छोटी बालिका ने रुदन की ठानी। वह समय का मूल्य जानती थी। उसके सोने का समय हो गया था।

हम लोग धर्मशाला लौटे, असबाब पर एक उड़ती हुई निगाह डाल कर थके-माँदे, कमरों के आगे सो रहे। बड़ी स्वस्थ निद्रा आई। प्रातः-काल गङ्गा-स्नान के लिए प्रस्थान करने वाले ही थे, ख्याल आया कि कुछ रुपया और ले लें, लौटते समय बाजार से कुछ सौदा-पता भी कर लेंगे। देवीजी एक साड़ी खरीदना चाहती थीं। बक्स देखा, ताला खुला था। सोचा, गलती से खुला रह गया होगा। रुपयों की थैली की तरफ हाथ डाला, वह गायब! सुनहले जेवर के डब्बों की ओर हाथ बढ़ाया तो वह भी नदारत! सोने के ढेले की गन्ध भी न मिली। यदि कपूर का ढेला होता तो, कुछ दिनों तक कपड़ों में ही उसकी गन्ध रहती। देवीजी का चेहरा फक पड़ गया। 'लो! अब क्या करोगे, चोरी हो गई!' आश्चर्यमुद्रा धारण कर मैंने भी चोरी शब्द की प्रतिध्वनि कर दी। प्रकृतिस्थ

होने पर देवीजी को धीरज बँधाते हुए कहा—'अभी पुलिस को लाता हूँ। ऐसी बात नहीं कि पता न लगे।'

मैं उन्हें वहीं छोड़ कर पूछता-पाछता थाने की ओर लपका। जहाँ जिधर देखूँ वहीं सन्नाटा। 'दारोगाजी कहाँ है?' 'एक बमकेस की तफतीश में गये हैं।' 'छोटे दारोगाजी हैं?' 'कोर्ट-साहब के यहाँ गये हैं।' कोई मुहर्रिर, मुन्शी, ख्वाँदा, कान्स्टेबिल, रिपोर्ट लिखने वाला न मिला। मैं झुँझला कर कोतवाली की तरफ जाने ही वाला था कि छोटे दारोगाजी आ गये। उनसे मैंने अपना दुखड़ा रोया। उन्होंने सहृदयता पूर्वक सुनने के बजाय मेरे ऊपर अविश्वास प्रकट किया। इतना सोना कहाँ से आया? रियासत की नौकरी का नाम लिया, तो भेद-भरी दृष्टि से कहने लगे 'तभी आपको कुछ परवा नहीं है! छोड़ कर चल दिये सैर करने!' मुझसा निरभिमान पुरुष भी ऐसी अपमान-जनक बातचीत न सुन सका। मैंने ज़रा कड़े स्वर से कहा—'यदि आपको रिपोर्ट लिखनी है तो लिखिए, नहीं तो मैं जाता हूँ। मेरे पास फिजूल वक्त नहीं है।' वे मेरे साथ धर्मशाला गये। दो-एक आदमियों के बयान लिये, एकाध जगह सामान इधर से उधर कराया, गालियों का कोष खाली किया, बस तफतीश की खाना-पूरी हो गई।

मैं डी० एस० पी० के यहाँ भी गया। छतरपुर की प्राइवेट सेक्रेटरीशिप के कार्ड की चोरी नहीं हुई थी। उसके बल पर डी० एस० पी० के बँगले में तुरन्त प्रवेश मिल गया। उसने बात-चीत तो सहृदयता से सुनी, लेकिन किसी विशेष अफसर को तैनात करने से इन्कार कर दिया। राज-नीतिक जुर्मों (Political Crimes) की छान-बीन में अफसर अधिक व्यस्त थे। बँगले से निकलते ही चपरासी ने इनाम के लिए सलाम किया। बड़ा गुस्सा आया, लेकिन करता भी क्या? हारे जुआरी की भाँति ताँगे पर आ बैठा।

दूसरे दिन नौ बजे से तीन बज तक इन्तजार करने के बाद कोतवाल साहब के दर्शन हुए। बड़ी दीनता धारण करने पर उन्होंने एक नवयुवक

इन्स्पेक्टर को मेरे साथ भेजा। उसकी सलाह से मेरे पड़ोस के सफेद-पोश लोगों की कलकत्ते के पते पर तलाशी के लिए वहाँ के सुपरिटेन्डेन्ट महोदय को तार दिया गया, वहाँ से जवाब आया कि कलकत्ते में वह गली ही नहीं है। मैं अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

छतरपुर से माल खरीदने आये हुए पुरोहितजी ने परिस्थिति का अध्ययन कर मुझे बतलाया कि चोरी किस तरह हुई होगी। सींक की ओट पहाड़ की बात निकली। मेरे कमरे से मिले हुए कमरे के बीच में जो किवाड़ थे उनमें देशी तरह की साँकल थी। उसके कुण्डे के छोर पीछे की ओर मुड़े थे, वे नरम लविया के थे, सहज ही में पीछे से सीधे किये जा सकते थे। कुण्डों के पीछे ठोंक कर किवाड़ खोलने में विशेष बुद्धिमानी की जरूरत न थी। उस काम को मैं भी कर सकता था। मेरा अज्ञान-तिमिरान्ध दूर हो गया। बेचारा ताला क्या करता? चोरी भी एक कला है।

दो दिन की छान-बीन में पता चला कि उस रोज़ ठगों का एक दल कानपुर आया था। उसने जुग्गीलाल कमलापति के यहाँ, कलकत्ते की दूकान से यह तार दिलवाया था कि उस गोल के एक व्यक्ति विशेष को पाँच हज़ार रुपये दे दिये जायँ। उसका मुनीम उस झाँसे में नहीं आया। वार खाली गया। वे तो मुनीम की सतर्कता से बच गये, मैं गरीब मारा गया। ५०००) नहीं तो पच्चीस सौ से कुछ ज़्यादा चोर के हाथ लगे। मृच्छ-कटिक के नायक चारुदत्त की भाँति मैंने भी संतोष कर लिया कि चोर हमारे घर से निराश नहीं गया। उसकी विद्या सफल हुई। वह जरूर सायत देख कर चला होगा।

तीन रोज़ की इक्के-ताँगे की दौड़-धूप और तारबर्की में मेरी जेब का शेष भार आधा रह गया, और जब जलेसर जाने मात्र का किराया मेरे पास बचा, तो दो दिन का स्थगित गङ्गा-स्नान का कार्य पूरा कर मैंने जलेसर का टिकट कटाया। जलेसर से मेरठ आया। वहाँ मेरी देवीजी के भाई साहब ने हम लोगों को एक कमरा दिया, उसके लिए वे एक छः लीवर

का मज़बूत ताला भी देने लगे। ताला देख कर मुझे भाग्य की विडम्बना पर हसी आई। जब कुछ माल ही न रहा, तब ताले की क्या जरूरत?

मालूम नहीं मेरी चोरी क्यों हुई? पूर्व जन्म के पापों के उदय होने से या इस जन्म की गफलत के कारण? जो कुछ भी हो. 'कनक से सौगुनी कनक की मादकता' का नशा हिरन हो गया! छुट्टी लेने और चोरी होने का यही फल हुआ कि मैं अपना काम-काज रुचि और तन्मयता के साथ करने लगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। लेखक ने सैर का मूल्य किस रूप में चुकाया?

२। चोरी की कानूनी कार्रवाई करने में लेखक को कौन-से कटु अनुभव हुए?

३। इस लेख में जो व्यंग्य और विनोद है उसे स्पष्ट कीजिये।

भिखारिन

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

['प्रसादजी' जैसे प्रतिभावान कवि थे वैसे ही समर्थ गद्य-लेखक भी थे। दोनों क्षेत्रों में आपका महत्वपूर्ण स्थान है। आपने काव्य के अतिरिक्त नाटक, कहानी, उपन्यास तथा निबन्ध भी लिखे हैं। आपकी समस्त कृतियों में हम एक "भावुक-कवि" के दर्शन पाते हैं, क्योंकि 'प्रसादजी' सर्वप्रथम 'कवि' हैं, बाद में नाटककार, कथाकार आदि। 'प्रसादजी' के विषय अधिकतर पौराणिक तथा ऐतिहासिक होते हैं। पर ये अपनी अपूर्व प्रतिभा, अगाध पांडित्य एवं अद्भुत कल्पना द्वारा उनमें चमत्कार पैदा कर देते हैं।

प्रसादजी की कहानियाँ भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से पूर्णतः सफल कृतियां हैं। आपकी बहुत-सी कहानियाँ हमारे सामाजिक जीवन पर तीक्ष्ण व्यंग्य करती हैं। 'भिखारिन' उनमें से एक है।

प्रमुख रचनाएँ :—

कविता:—कामायनी, आँसू, झरना आदि।
नाटक :—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुव स्वामिनी आदि।
उपन्यास :—तितली और कंकाल।
कहानी-संग्रह :—आकाशदीप, आँधी, छाया, प्रतिध्वनि आदि।]

जाह्नवी अपने बालू के कम्बल में ठिठुर कर सो रही थी। शीत कुहा-सी बनकर प्रत्यक्ष हो रही थी। दो-चार लाल धाराएँ प्राची के क्षितिज में बहना चाहती थीं। धार्मिक लोग स्नान करने के लिए आने लगे थे।

निर्मल की माँ स्नान कर रही थी, और वह पण्डे के पास बैठा हुआ बड़े कुतूहल से धर्मभीरु लोगों की स्नान-क्रिया देखकर मुस्करा रहा था। उसकी माँ स्नान करके ऊपर आई। अपनी चादर ओढ़ते हुए स्नेह से उसने निर्मल से पूछा—'क्या तू स्नान न करेगा?'

निर्मल ने कहा—'नहीं माँ, मैं तो धूप निकलने पर घर पर ही स्नान करूँगा।'

पण्डाजी ने हँसते हुए कहा—'माता, अबके लड़के धर्म-पुण्य क्या जानें? यह सब तो जब तक आप लोग हैं, तभी तक है?'

निर्मल का मुँह लाल हो गया। फिर भी वह चुप रहा। उसकी माँ संकल्प लेकर कुछ दान करने लगी। सहसा जैसे उजेला हो गया। एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गयी—'कुछ हमको दे दो रानी माँ!'

निर्मल ने देखा, एक चौदह वर्ष की भिखारिन भीख माँग रही है। पण्डाजी झल्लाये। बीच ही में संकल्प अधूरा छोड़कर बोल उठे—'चल हट!'

निर्मल ने कहा—'माँ, कुछ इसे भी दे दो।'

माता ने उधर देखा भी नहीं, परन्तु निर्मल ने उस जीर्ण मलिन वसन में एक दरिद्र हृदय की हँसी को रोते हुए देखा। उस बालिका की आँखों में एक अधूरी कहानी थी। सूखी लटों में सादी उलझन थी, और बरौनियों के अग्रभाग में संकल्प के जलबिन्दु लटक रहे थे। करुणा का दान जैसे होने ही वाला था।

धर्मपरायण निर्मल की माँ स्नान करके निर्मल के साथ चली। भिखारिन को अभी आशा थी। वह भी उन लोगों के साथ चली।

निर्मल एक भावुक युवक था। उसने पूछा—"तुम भीख क्यों माँगती हो?"

भिखारिन की पोटली के चावल फटे कपड़े के छिद्र से गिर रहे थे। उन्हें सँभालते हुए उसने कहा—'बाबूजी, पेट के लिए।'

निर्मल ने कहा—'नौकरी क्यों नहीं करती? माँ, इसे अपने यहाँ रख क्यों नहीं लेती हो? धनिया तो प्रायः आती भी नहीं।'

माता ने गम्भीरता से कहा—'रख लो! कौन जाति है, कैसी है, जाना न सुना। बस, रख लो!'

निर्मल ने कहा—"माँ! दरिद्रों की तो एक ही जाति होती है।"

माँ झल्ला उठी, और भिखारिन लौट चली। निर्मल ने देखा जैसे

उमड़ी हुई मेघमाला बिना बरसे लौट गयी ! उसका जी कचोट उठा। विवश था, माता के साथ चला गया।

× × ×

"सुने री निर्धन के धन राम ! सुने री—"

भैरवी के स्वर पवन में आन्दोलन कर रहे थे। धूप गंगा के वृक्ष पर उजली होकर नाच रही थी। भिखारिन पत्थर की सीढ़ियों पर सूर्य की ओर मुँह किये गुनगुना रही थी। निर्मल आज अपनी भाभी के संग स्नान करने आया है। गोद में अपने चार वर्ष के भतीजे को लिए वह भी सीढ़ियों से उतरा।

भाभी ने पूछा, 'निर्मल ! आज क्या तुम भी पुण्य-संचय करोगे ?'

'क्यों भाभी ? जब तुम इस छोटे से बच्चे को इस सरदी में नहला देना धर्म समझती हो, तो मैं ही क्यों वञ्चित रह जाऊँ ?'

सहसा निर्मल चौंक उठा ! उसने देखा, बगल में वही भिखारिन बैठी गुनगुना रही है। निर्मल को देखते ही उसने कहा—'बाबूजी तुम्हारा बच्चा फले-फूले, बहू का सोहाग बना रहे ! आज तो मुझे कुछ मिले।'

निर्मल अप्रतिभ हो गया। उसकी भाभी हँसती हुई बोली—'दूर पगली !'

भिखारिन सहम गयी। उसके दाँतों का भोलापन गम्भीरता के परदे में छिप गया। वह चुप हो गयी !

निर्मल ने स्नान किया। सब ऊपर चलने को प्रस्तुत थे। सहसा बादल हट गये, उन्हीं अमल-धवल दाँतों की श्रेणी ने फिर याचना की—'बाबूजी कुछ मिलेगा ?'

'अरे, अभी बाबूजी का विवाह नहीं हुआ। जब होगा तब तुझे न्योता देकर बुला देंगे। तब तक संतोष करके बैठी रह !'—भाभी ने हँस कर कहा।

'तुम लोग बड़ी निष्ठुर हो भाभी ! उस दिन माँ से कहा कि इसे नौकर रख लो, तो वह इसकी जाति पूछने लगी; और आज तुम भी हँसी कर रही हो !'

निर्मल की बात काटते हुए भिखारिन ने कहा 'बहूजी, तुम्हें देखकर मैं तो यही जानती हूँ कि ब्याह हो गया है। मुझे कुछ न देने के लिये बहाना कर रही हो ?'

"मर पगली ! बड़ी ढीठ है।' भाभी ने कहा।

'भाभी ! उस पर क्रोध न करो। वह क्या जाने। उसकी दृष्टि में सब अमीर और सुखी लोग विवाहित हैं। जाने दो, घर चलें।'

'अच्छा चलो आज माँ से कहकर इसे तुम्हारे लिये टहलनी रखवा दूँगी।'—कहकर भाभी हँस पड़ी।

युवक-हृदय उत्तेजित हो उठा, बोला, 'यह क्या भाभी ! मैं तो इससे ब्याह करने के लिये भी प्रस्तुत हो जाऊँगा। तुम व्यंग्य क्यों कर रही हो ?'

भाभी अप्रतिभ हो गई ! परन्तु भिखारिन अपने स्वाभाविक भोलेपन से बोली—'दो दिन माँगने पर भी तुम लोगों से एक पैसा तो देते नहीं बना, फिर गाली क्यों देते हो बाबू ! ब्याह करके निभाना तो बड़ी दूर की बात है।' भिखारिन भारी मुँह किये लौट चली।

बालक रामू अपनी चालाकी में लगा था। माँ की जेब से दुअन्नी अपनी छोटी उँगलियों से उसने निकाल ली; और भिखारिन की ओर फेंक कर बोला—'लेती जाओ ओ भिखारिन !'

निर्मल और भाभी को रामू की इस दया पर कुछ प्रसन्नता हुई; पर वे प्रकट न कर सके क्योंकि भिखारिन ऊपर की सीढ़ियों पर चढती हुई गुनगुनाती चली जा रही थी —

'सुने री निर्धन के धन राम !'

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। 'भिखारिन' कहानी को अपने शब्दों में लिखिये।
२। इस कहानी के मध्यवर्ती विचार को स्पष्ट कीजिए।

प्रेमचन्द का महत्व

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

[डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी साहित्य के गंभीर अन्वेषक और मौलिक चिंतक हैं। आपकी रचनाओं में पांडित्य और सरसता का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' द्विवेदीजी की अमर कृति है। 'कबीर' नामक आपके प्रसिद्ध ग्रंथ पर आपको १२००) का 'मंगला प्रसाद पारितोषिक' प्राप्त हुआ है। हिन्दी के श्रेष्ठतम निबन्धकारों में आपका महत्वपूर्ण स्थान है। कई वर्षों तक आप विश्वभारती, शांतिनिकेतन के हिन्दी विभाग का अध्यक्ष-पद सुशोभित करते रहे हैं। इन दिनों आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, ज्योतिष, और विभिन्न धर्मों का आपने गहराई के साथ अध्ययन किया है। आप संस्कृत के प्रकांड पंडित हैं और हिन्दी के समर्थ साहित्यकार। आपका दृष्टिकोण सदा ही मानवतावादी रहा है। आप साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने के पक्षपाती हैं। आपका विचार है कि मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। आपकी सभी रचनाएँ इसी मनुष्यता के महान आदर्श को अभिव्यक्त करती हैं। द्विवेदीजी की भाषा में प्रवाह और माधुर्य है। अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक एवम् सशक्त होती है। आपकी समीक्षा-शैली पर कवीन्द्र रवीन्द्र के व्यक्तित्व की पूरी छाप पड़ी है। अतः उसमें भावुकता का अंश संयुक्त रहता है।

प्रमुख रचनाएँ :—

बाणभट्ट की आत्मकथा, कबीर, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य की भूमिका, अशोक के फूल, कल्पलता, विचार और वितर्क आदि।]

प्रेमचन्द का जन्म बनारस के पास ही एक गाँव में एक निर्धन परिवार में हुआ था। उन्होंने आधुनिक शिक्षा पाई नहीं थी, बटोरकर संग्रह की थी। मैट्रिक पास करते-करते उनकी आर्थिक स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी थी कि अपना निर्वाह वे पुरानी पुस्तकें बेंचकर भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने स्कूल में मास्टरी कर ली थी और स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर

होने तक की अवस्था तक पहुँच चुके थे। महात्मा गान्धी की पुकार पर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीवन की अन्तिम घड़ियों तक कशमकश और संघर्ष का जीवन बिताया। वे दरिद्रता में जनमे, दरिद्रता में पले और दरिद्रता से ही जूझते-जूझते समाप्त हो गए। फिर भी वे अपने काल में समस्त उत्तरी-भारत के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक थे। आप चाहें तो इस घटना से उस समाज की साहित्यिक क़द्रदानी का भी अन्दाज़ लगा सकते हैं जिसका सर्वश्रेष्ठ वे संसार को सुनाने के लिये व्याकुल थे। उन्होंने अपने को सदा मज़दूर समझा। बीमारी की हालत में भी, मृत्यु के कुछ दिन पहले तक भी वे अपने कमज़ोर शरीर को लिखने के लिये मजबूर करते रहे। मना करने पर कहते "मैं मज़दूर हूँ, मज़दूरी किये बिना मुझे भोजन करने का अधिकार नहीं।" उनके इस वाक्य में अभिमान का भाव भी था और अपने नाक़द्रदान समाज के प्रति एक व्यंग्य भी। लेकिन असल में वे इसलिये नहीं लिखते थे कि उन्हें मज़दूरी करना लाज़िमी था, बल्कि इसलिये कि उनके दिमाग में कहने लायक इतनी बातें आपस में धक्का-मुक्की करके निकलना चाहती थीं कि वे उन्हें प्रकट किये बिना रह ही नहीं सकते थे। उनके हृदय में इतनी वेदनाएँ, इतने विद्रोह-भाव, इतनी चिनगारियाँ भरी थीं कि वे उन्हें सम्हाल नहीं सकते थे। उनका हृदय अगर इन्हें प्रकट न कर देता तो वे शायद और भी पहले बन्धन तोड़ देते। विनय की वे साक्षात् मूर्ति थे, परन्तु यह विनय उनके आत्माभिमान का कवच था। वे बड़े ही सरल थे, परन्तु दुनिया की धूर्तता और मक्कारी से अनभिज्ञ नहीं थे, उनके ग्रंथ इस बात के प्रमाण हैं। ऊपर-ऊपर से देखने पर अर्थात् राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के साथ तुलना करने पर वे बहुत निर्धन थे, लोग उनकी इस निर्धनता पर तरस खाते थे, परन्तु वे स्वयं नीचे की ओर देखने वाले थे। लाखों और करोड़ों की तादाद में फैले हुए भुक्खड़ों, दाने-दाने को और चिथड़े-चिथड़े को मुहताज लोगों की वे ज़बान थे। उन्हें भी देखते थे, इसलिये अपने को निर्धन समझकर हाय-हाय नहीं करते थे। इसको वे वरदान समझते थे। दुनिया की सारी

जटिलताओं को समझ सकने के कारण ही वे निरीह थे, सरल थे। धार्मिक ढकोसलों को वे ढोंग समझते थे, पर मनुष्यता को वे सबसे बड़ी वस्तु समझते थे। उन्होंने ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया; फिर भी इस युग के साहित्यिकों में मानव की सद्-वृत्तियों में जैसा अडिग विश्वास प्रेमचन्द का था वैसा शायद ही और किसी का हो। असल में यह नास्तिकता भी उनके दृढ़ विश्वास का कवच थी। वे बुद्धिवादी थे और मनुष्य की आनन्दिनी वृत्ति पर पूरा विश्वास करते थे। 'गोदान' नामक अपने अन्तिम उपन्यास में अपने एक पात्र के मुँह से वे मानो अपनी ही बात कह रहे हैं—'जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इसपर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा है, जो हमारी मानवता को नष्ट किए डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वहीं ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष है और उपासना है। ज्ञानी कहता है, होठों पर मुस्कराहट न आये, आँखों में आँसू न आयें। मैं कहता हूँ अगर तुम हँस नहीं सकते और रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मानवता को पीस डाले, ज्ञान नहीं, कोल्हू है।' ऐसे थे प्रेमचन्द—जिन्होंने ढोंग को कभी बर्दाश्त नहीं किया, जिन्होंने समाज को सुधारने की बड़ी बड़ी बातें सुझाई ही नहीं, स्वयं उन्हें व्यवहार में लाए; जो मनसा-वाचा एक थे; जिनका विनय आत्माभिमान का, संकोच महत्व का, निर्धनता निर्भीकता का, एकान्त-प्रियता विश्वासानुभूति का और निरीह भाव कठोर कर्तव्य का कवच था; जो समाज की जटिलताओं की तह में जाकर उसी टीमटाम और भभ्भड़पन का पर्दाफ़ाश करने में आनन्द पाते थे और जो दरिद्र किसान के अन्दर आत्मबल का उद्घाटन करने को अपना श्रेष्ठ कर्तव्य समझते थे; जिन्हें कठिनाइयों से जूझने में मज़ा आता था; जो तरस खानेवाले पर दया की मुस्काराहट बिखेर देते थे; जो ढोंग करनेवाले को कसके व्यंग्यबाण मारते थे और जो निष्कपट मनुष्यों के चेरे हो जाया करते थे। जो मानो अपने विषय में कहते थे—'जिन्हें धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मंदिर में उनके

लिए स्थान नहीं है। यहाँ उन उपासकों की आवश्यकता है जिन्होंने अपने जीवन की सार्थकता सेवा में ही मान ली हो, जिनके दिल में दर्द की तड़प हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज़्ज़त तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो वर्तमान प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि हमारा पाँव चूमेगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिंता हमें क्यों सतावे? और इनके न मिलने पर हम निराश क्यों हों? हमें समाज पर अपना बड़प्पन जताने, उसपर रोब जमाने की हविस क्यों हो?..................हम तो समाज का झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही हैं और सादी ज़िंदगी के साथ ऊँची निगाह हमारा लक्ष्य है। जो आदमी सच्चा कलाकार है, वह स्वार्थमय जीवन का प्रेमी नहीं हो सकता, उसे अपनी मन:तुष्टि के लिए दिखावे की आवश्यकता नहीं, उससे तो उसे घृणा होती है।"

प्रेमचन्द आत्माराम थे।

प्रेमचन्द शताब्दियों से पद-दलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज़ थे। पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के ज़बरदस्त वकील थे। गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर उत्तर-भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दु:ख-सुख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो मैं आपको नि:संशय बता सकता हूँ कि प्रेमचन्द से उत्तम परिचायक आपको दूसरा नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचेवालों से लेकर बैंकों तक, गाँव-पंचायतों से लेकर धारा-सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। आप बेखटके प्रेमचन्द का हाथ पकड़ कर मेड़ों पर गाते हुए किसान को, अन्त:पुर में मान किये प्रियतमा को, कोठे पर बैठी हुई वारवनिता को, रोटियों के लिए ललकते हुए भिखमंगों को, कूट परामर्श में लीन गोयन्दों को, ईर्षापरायण प्रोफेसरों को, दुर्बलहृदय बैंकरों को, साहस-परायण चमारिन को, ढोंगी पण्डित को, फरेबी पटवारी को, नीचाशय अमीर को देख सकते हैं

और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकते हैं कि जो कुछ आपने देखा है वह गलत नहीं है, उससे अधिक सचाई से दिखा सकनेवाले परिदर्शक को अभी हिन्दी-उर्दू की दुनिया नहीं जानती। परन्तु सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे। जो संस्कृतियों और सम्पदाओं से लद नहीं गये हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गँवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्म-बल रखते हैं और न्याय के प्रति अधिक सम्मान दिखाते हैं जो शिक्षित हैं, जो सुसंस्कृत हैं, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो दुनियादार हैं, जो शहरी हैं। लेकिन यह बात जानकर आप प्रेमचन्द को गलत न समझें। पश्चिम में महायुद्ध के बाद जो एक 'प्रिमिटिविज्म' की हवा बही है, जिसमें यह वकालत की जाती है कि सभ्यता की ओर अग्रसर होना ही गलती है, जो मेक्सिको के सभ्यता-हीन आदिमाध्युषित अंचलों में जा छिपने को ही त्राण का एकमात्र रास्ता समझते हैं, जो पीछे की ओर लौटना ही श्रेयस्कर मानते हैं; उन प्रति-क्रिया-पंथियों की पंगत में प्रेमचन्द को नहीं बैठाया जा सकता। प्रेमचन्द मनुष्य की सद्वृत्तियों में विश्वास करते हैं। मनुष्य की दुर्वृत्तियों को वे अजेय तो समझते ही नहीं। उनको भाव-रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं इसी में सन्देह है। वे मानते हैं कि जड़ोन्मुखी सभ्यता ने हमें जड़ता को ही प्रधान मानने की ओर प्रवृत्त किया है। हमने टीमटाम को, भीड़-भम्भड़ को, दिखाव-बनाव को और दुनिया-दौलत को प्रधातना दी है। ये वस्तुएँ मनुष्य को न तो महान् बनाती हैं और न क्षुद्र, परन्तु ये मनुष्य के मन को दुर्बल कर देती हैं, आत्मा को सशंक बना देती हैं। आत्म-बल हरएक व्यक्ति में है, पर जड़-पूजा की अधिकता से वह अवरुद्ध हो जाता है। इसीलिये जो जितना त्याग कर सकता है अर्थात् जो जितना इस जड़िमा के बन्धन को तोड़ सकता है वह उतना ही महान् हो जाता है; आत्म-बल के बाधक कुश-कंटकों को उखाड़ फेंकने में वह उतना ही सफल होता है। जिनके पास ये बन्धन जितने ही कम होते हैं वे उतने ही जल्दी सत्य-परायण हो जाते हैं। 'रंगभूमि' का सूरदास शिक्षित और धनी विनय की अपेक्षा शीघ्र और स्थायी आत्म-बल

का अधिकारी है और ठीक यही बात 'गबन' के कुँजड़े और किसान-स्त्री के सम्बन्ध में लागू होती है। स्त्रियों में भी वह शक्ति पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है क्योंकि वे पुरुषों के समान जड़ शिक्षा और जड़ सम्पदा के बन्धनों से कम बँधी रहती हैं।

प्रेमचन्द ने अतीत गौरव का पुराना राग नहीं गाया और न भविष्य की हैरत-अंगेज कल्पना ही की। वे ईमानदारी के साथ वर्तमान काल की अपनी वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करते रहे। उन्होंने देखा कि बन्धन भीतर का है, बाहर का नहीं। एक बार अगर ये किसान, ये गरीब यह अनुभव कर सकें कि संसार की कोई भी शक्ति उनको नहीं दबा सकती तो वे निश्चय ही अजेय हो जायें। बाहरी बन्धन उन्हें दो प्रकार के दिखाई दिये। भूतकाल की संचित स्मृतियों का जाल और भविष्य की चिंता से बचने के लिए संग्रहीत ईंट-पत्थरों का स्तूप। एक का नाम है संस्कृति और दूसरे का सम्पत्ति। एक का रथ वाहक है धर्म और दूसरे का राजनीति। प्रेमचन्द इन दोनों को मनुष्यता के विकास का बाधक मानते हैं।

प्रेमचन्द के मत से प्रेम एक पावन वस्तु है। वह मानसिक गंदगी को दूर करता है, मिथ्याचार को हटा देता है और नई ज्योति से तामसिकता का ध्वंस करता है। यह बात उनकी किसी भी कहानी और किसी भी उपन्यास में देखी जा सकती है। यह प्रेम ही मनुष्य को सेवा और त्याग की ओर अग्रसर करता है। जहाँ सेवा और त्याग नहीं वहाँ प्रेम भी नहीं है। वहाँ वासना का प्राबल्य है। सच्चा प्रेम सेवा और त्याग में ही अभिव्यक्ति पाता है। प्रेमचन्द का पात्र जब प्रेम करने लगता है तो सेवा की ओर अग्रसर होता है, अपना सर्वस्व परित्याग कर देता है।

प्रेमचन्द ने बहुत विस्तृत क्षेत्र का चित्रण किया है। कहते हैं उन्होंने निम्न श्रेणी और मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों को ही सफलता पूर्वक चित्रित किया है। उच्च श्रेणी के चरित्रों को चित्रित करने में वे उतने सफल नहीं रहे। मैं ठीक नहीं जानता, मैं उस श्रेणी से ठीक-ठीक परिचित नहीं हूँ। अगर आपमें से कोई उस श्रेणी के जानकार हों तो स्वयं इस

बात की जाँच करें, परन्तु मैं इतना तो कह ही सकता हूँ कि उनके अधिकांश पात्र उसी श्रेणी के हैं जिनके चित्रण में उन्हें समर्थ बताया गया है और निम्न श्रेणी तथा मध्यम श्रेणी के पुरुषों और स्त्रियों से आपके यथार्थ परिचय का अर्थ है देश की वास्तविक समस्याओं की जानकारी। उन्हें जानकर ही आप अपनी ताक़त का अन्दाजा लगा सकते हैं––अपने गंभीर तत्त्व की मज़बूती या कमज़ोरी का पता लगा सकते हैं। फिर वही ऐसे हैं जो शताब्दियों तक केवल उपेक्षित और पद-दलित ही नहीं रहे, परिहास और अपमान के पात्र भी बने रहे। हज़ारों वर्ष के भारतीय साहित्य में इनकी आशाओं, आकांक्षाओं, सुख-दुखों और सूझ-बूझों की चर्चा नहीं के बराबर हुई है। ये ही हैं जो भारतवर्ष के मेरुदण्ड हैं, जिनके बनने बिगड़ने पर हमारा और इसीलिये सारे संसार का बनना बिगड़ना निर्भर है। अगर आप शहर के रहनेवाले रईस हैं तो आपको एक अत्यन्त आश्चर्य्योद्रेचक नवीन जगत् का परिचय मिलेगा और अगर मेरे समान गाँव के निवासी हैं तो विश्वास कीजिए आपको अपने सहवासियों को देखने के लिए नई आँख मिलेगी। आप इन हाड़-मांस की जीवित प्रतिमाओं से परिचय पाकर किसी प्रकार ठगे नहीं जायँगे।

लेकिन आप प्रेमचन्द में यदि किसी नये आदर्श की आशा करेंगे तो आपको निराश होना पड़ेगा। वे देश की मौलिक समस्याओं के समाधान में अपने युग के राजनीतिक नेताओं से बुरी तरह प्रभावित थे। पहले महात्मा गांधी के आदर्शों को और बाद में समाजवाद के सिद्धान्तों को उन्होंने राष्ट्र की बुनियादी समस्याओं के समाधान का उपाय बताया, परन्तु आप शायद इन आदर्शों के लिए ऋणी होने को, मेरे ही समान, दोष हेतु नहीं मानेंगे और प्रेमचन्द की वास्तविक विशेषता का फिर भी सम्मान कर सकेंगे। जिस विचित्र युग में हम वास कर रहे हैं उसमें देश-विदेश के इतने आदर्शों से हमें टकराना पड़ता है कि एकाध नये आदर्श के और मिल जाने से हमें कुतूहल नहीं होता और न मिलने से कोई पश्चात्ताप भी नहीं होता। हम जब आदर्शों को जीवन में व्यवहृत देखते हैं तो

हमारी कुतूहल-वृत्ति जरूर आकृष्ट होती है। गांधी में हमने आदर्शों को इसी जीवन्त रूप में देखा है और प्रेमचन्द के पात्रों में हम आदर्शों और कल्पनाओं को इसी जीवन्त रूप में पाते हैं। यह जीवन में ढालकर आदर्श को सरस और हृदयग्राही बना देना ही प्रेमचन्द की विशेषता है। यह जीवन ही उनकी कृतियों में सर्वत्र छलकता हुआ मिलता है। औषधियाँ घर-बाहर सर्वत्र हैं, कुछ को हम जानते हैं कुछ को नहीं जानते ; पर जानते हों या न जानते हों, हम गाय के कृतज्ञ ज़रूर होंगे जिसने इन औषधों को अपने जीवन में ढालकर सरस दूध करके हमारे सामने रखा। हम आदर्शों को जीवन से छानकर सामने रखनेवाले प्रेमचन्द के भी निश्चय ही कृतज्ञ होंगे !

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। प्रेमचन्दजी को हम महान लेखक क्यों मानते हैं? सप्रमाण उत्तर दीजिए।
२। किन आदर्शों को लेकर प्रेमचन्दजी समाज से जूझते रहे और क्यों?
३। 'अपने प्रिय लेखक' पर एक निबन्ध लिखिये।

मेरी कुतिया

पं० रामनरेश त्रिपाठी

[पं० रामनरेश त्रिपाठी मूलतः कवि हैं, पर यदा कदा गद्य भी लिखते रहते हैं। खड़ी बोली के सर्जकों में आपका महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से आप अपनी परिमार्जित एवम् परिष्कृत शैली में विविध रचनाएँ करते आ रहे हैं। पथिक, मिलन और स्वप्न-भंग आपके खंड काव्य हैं, जिनमें आपकी रचना-प्रतिभा का उज्ज्वल उदाहरण हमें प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त गुजरात के राष्ट्रकवि स्व० झवेर-चंद मेघाणी की भाँति आपने भी लोक गीतों का संग्रह एवम् सम्पादन किया है। कविता-कौमुदी के चार भागों के यशस्वी संग्रह-कर्ता आप ही हैं। 'रामचरित मानस' की सर्वश्रेष्ठ टीका लिखने का साधु कार्य आपने किया है।

आप राष्ट्रीयता के परम उपासक हैं। आपकी कृतियों पर 'बापू' के जीवन और चिंतन की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। बच्चों के लिए भी आपने काफ़ी लिखा है। त्रिपाठीजी की भाषा-शैली की विशेषता उसकी सरलता और स्वाभाविकता है।]

मेरा मकान शहर के बाहर, एक बाग के अंदर, स्टेशन के निकट अकेली जगह में है। मेरे शहर वाले दूसरे मकान में एक बंगाली डॉक्टर किराये-दार थे। उनके पास दोगली नस्लवाली एक कुतिया थी, जिसने चार बच्चे दिये थे। डॉक्टर ने उन्हीं में से एक बच्चा, जो कुतिया थी, मुझे दे दिया था।

उसका सारा शरीर लाल रंग का था। शरीर की बनावट भी बहुत सुन्दर थी। लम्बा-सा मुँह, कोमल-कोमल आँखें, पूँछ हिलाने और पैरों पर लोटकर भक्ति-भाव प्रदर्शन के ढंग, सभी तो लुभावने थे।

उसने स्वयं मुझे प्यार करना सिखा दिया। लिखने-पढ़ने से थक जाता, तो उससे खेलने बैठ जाता। उन दिनों मैं ज़्यादातर इलाहाबाद रहा करता था। दूसरे-तीसरे महीने आता और दो-चार दिन रहकर फिर

वापस चला जाया करता था। मैं जब स्टेशन पर उतरता, तो कुतिया सामने खड़ी पूँछ हिलाती हुई मिलती थी। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि कुतिया को कैसे मालूम हुआ, मैं आज आऊँगा। ऐसा ही जाने के दिन भी होता। मैं कुतिया को बिना बताये स्टेशन जाता और डिब्बे में बैठता, तो उसे सामने हाजिर पाता। जब तक उसके सिर पर मैं थपकी न दे लेता, तब तक वह नहीं जाती थी। अजीब उसका मोह था।

धीरे-धीरे उसने हिन्दी के दस-बारह शब्दों के अर्थ या भावार्थ भी सीख लिये थे। 'आओ' कहते ही सामने आकर पूँछ हिलाने लगती; 'जाओ' कहते ही फौरन चली जाती; 'ठहरो' कहते ही चलते-चलते रुक जाती; 'बैठो' कहते ही बैठ जाती और 'चुप' कहते ही भूँकती-भूँकती चुप हो जाती। घर के सब लोगों को नाम से पहचानने लगी थी।

घर में रसोई तैयार हो जाती, तब गृहस्वामिनी कहती—"जाओ, बाबू को बुला लाओ।" वह मटकती हुई दौड़कर आती और मेरा पैर सूँघने लगती। मैं समझ जाता और उठकर रसोईघर की तरफ चलता। वह आगे-आगे चलती। आँगन में जाकर बैठ जाती और मेरी ओर देखती हुई बैठी रहती। खा चुकने पर मैं रोटी का एक टुकड़ा उसके सामने भी फेंक दिया करता।

एक दिन टुकड़ा फेंकना मैं भूल गया। रसोईघर से उसे जो-कुछ खाने को मिलता था, उसे खा कर भी वह आँगन से उठ नहीं रही थी। गृह-स्वामिनी ने आकर मुझे यह सूचना दी, तब मैं फिर रसोईघर में गया और थाली परोसवाई; कुछ देर रोटियों को इधर-उधर करता रहा और एक टुकड़ा तोड़कर दिया, तब वह खाकर बाहर गयी।

मैं बागवाले मकान में जितने दिन रहता, वह नियमित रूप से रात मेरी खाट के नीचे ही बिताती। रात में वह कई बार उठकर बाग के मेंड़ों पर घूम-घूम कर भूँक आती। बाग के पास से आनेवाले चोर उससे बहुत कुढ़ते थे।

एक बार बरसात की अंधेरी रात थी। पानी रिमझिम बरस रहा था। घर में चोर घुसे थे। कुतिया मकान के कभी आगे कभी पीछे दौड़-दौड़कर भूँक रही थी। मकान के बरामदे में कई आदमी लेटे हुए थे, पर सब गहरी नींद में थे। जो जग भी गये होंगे, वे कुतिया की हमेशा की भूँकने की आदत समझकर चुपचाप पड़े रह गये होंगे। कुतिया से रहा न गया। वह घर के नौकर की छाती पर जा चढ़ी और दाँतों से उसने उसका कुरता फाड़ डाला। नौकर ने समझा, कोई पागल सियार है। वह उठकर कुतिया के पीछे दौड़ा। उसकी आहट पाकर चोर घर से निकल भागे।

सबेरा हुआ। चोरी होने का पता चला। कुतिया मेरी लड़की की धोती का सिरा पकड़ कर एक ओर को खींचने लगी। मैंने कहा—"जाओ, देखो, कहाँ ले जाती है।" लड़की कुतिया के पीछे-पीछे एक फर्लांग तक खेतों में होकर गयी। एक जगह एक खाली बक्स पड़ा मिला, जिसके अंदर का सामान चोरों ने निकाल लिया था। कुतिया ने मुँह से एक ढेले को उलट दिया, उसके नीचे दो रुपये दबे हुए निकले।

कुछ दिनों के बाद कुतिया गर्भवती हुई। अब उसका मन स्वादिष्ट चीजें खाने के लिए ललचाने लगा। वह चुपके-से शहर में निकल जाती और हलवाइयों की दूकानों पर शीरे का मैल चाटती फिरती। एक दिन शहर गया था। मैंने उसे देख लिया। क्रोधित स्वर में कहा—"घर चलो, तो तुमको खूब पीटेंगे।" मुझे देखते ही और मेरी बात सुनते ही वह बड़े जोर से घर की ओर भागी।

एक बार चुपके से घर से निकलकर शहर की ओर जाने लगी थी, तब घर के एक व्यक्ति ने कहा—"अच्छा, जाओ, बाबू से कह देंगे।" सुनते ही लौट आयी और पूँछ हिलाकर उस व्यक्ति के पैरों से खेलने लगी—मानो खुशामद कर रही थी कि, बाबू से मत कहना।

चोरों को उससे खास चिढ़ हो गयी थी। उसे उन्होंने कोई दवा खिला दी होगी; क्योंकि वह बीमार रहने लगी थी। मैंने दवा-दारू तो

बहुत की, पर कोई लाभ नहीं हुआ। उसके चार बच्चे भी हो गये थ। छोटा बच्चा सफेद रंग का था और बहुत सुंदर था। मैं उसे पाल लेना चाहता था। बाकी के मित्रों को दे देता। कुतिया बहुत कमजोर हो गयी थी। मैंने बच्चों को उससे अलग कर दिया था। वह दिन में दो-एक बार बच्चों के पास जाती और उन्हें दूध पिला आती।

मैंने एक गद्देदार आरामकुर्सी पर बिछौना बिछवाकर उस पर कुतिया को बैठने की जगह दे रखी थी। एक रात में कुछ आहट पाकर कुतिया उठी और बाग में दूर तक जाकर भूँक आयी। बरामदे के जीने के पास आयी, तब उससे ऊपर चढ़ा नहीं जाता था। मेरी नींद खुल चुकी थी और मैं उसे देख रहा था। उसकी कमजोरी देखकर मैं उठा और उसे गोद में उठाकर आरामकुर्सी पर बैठा दिया।

सबेरे उठकर देखा, तो कुतिया मरी पड़ी थी और उसका वही छोटा बच्चा उसकी छाती पर शोक-संतप्त-सा बैठा था। अनुमान किया गया कि, जब कुतिया को विश्वास हो गया होगा, वह मर जायगी, तब उठकर बच्चों को अंतिम बार देखने गयी होगी और सबसे छोटे बच्चे को, जिसे हम दोनों बहुत प्यार करते थे, मुँह में दबाकर उठा लायी होगी तथा छाती पर लिटाकर मोह-मुग्ध अवस्था में उसने शरीर छोड़ दिया होगा।

कुतिया घर में छोटे-बड़े सबको प्रसन्न रखती थी। उस दिन हमारे घर में चूल्हा नहीं जला। मेरे तो आँसू भी बहे। उसके मृत शरीर को गहरा गड्ढा खुदवाकर उसी में मिट्टी से ढक दिया गया। मैंने एक पंडित को बुलाकर उसके लिए शांति-पाठ भर करा दिया!

संसार बड़ा अद्भुत है। प्रत्येक जीव-जंतु का एक स्वतंत्र जगत है। प्रत्येक के कुटुम्ब हैं। मित्र-शत्रु हैं, काम, क्रोध, मोह और लोभ हैं; प्रत्येक की अलग-अलग भाषा है या भावों को व्यक्त करने-कराने के संकेत हैं; हम उन्हें नहीं जानते। जब एक चींटी हमारे पैर से दबकर मर जाती है, तब हमें ध्यान भी नहीं आता कि सम्भव है, वह ससुराल जा रही हो!

यह भी सम्भव है कि मनुष्य-जगत के आस पास ही एक विराट् जगत और हो, जिसमें भिन्न आकृति-प्रकृति के शरीरधारी जीव रहते हों और उनके सामने हम चींटी-जैसे हों। चींटी अपनी आँखों से मनुष्य के पूरे शरीर को नहीं देख पाती; इसी तरह विराट् जगत के शरीरधारियों को देख पाने में हमारी आँखें भी अक्षम हों। अतः हमें किसी बात का अभिमान तो होना ही नहीं चाहिए और न किसी को तुच्छ ही समझना चाहिए।

संतान के प्रति माता का स्नेह पशु-पक्षी, कीट-पतंग और मनुष्य सब में एक-सा है। उस कुतिया में भी संतान के प्रति माता का मोह मनुष्यों-जैसा ही तो था!

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। कुतिया के स्नेह और ममत्व के प्रसंगों को अपने शब्दों में लिखिये।
२। कुतिया की समझदारी और वफादारी के उदाहरण दीजिये।
३। "पशुओं की कर्तव्य-परायणता" पर एक निबन्ध लिखिय।

गांधीजी

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

[श्री बनारसीदासजी प्रथमतः और मूलतः पत्रकार हैं। उनकी पत्र-कारिता का क्षेत्र साहित्य ही रहा है। 'विशाल भारत' मासिक पत्रिका का कई वर्षों तक आपने सफल सम्पादन किया है। उसे प्रतिष्ठा तथा प्रसिद्धि प्राप्त कराने का श्रेय आपको ही है। आप साहित्यिक आन्दोलनों के सदा अगुआ रहे हैं। स्मारक-निर्माण तथा जनपदी बोलियों और उनके साहित्यों के उद्धार के लिए अनेक आन्दोलन आपने किये हैं और आज भी कर रहे हैं। प्रवासी भारतीयों के लिए भी आपने कम कार्य नहीं किया। आपका जीवन सदा सार्वजनिक कार्यकर्ता का जीवन रहा है। आप अनेक जन-नेताओं और साहित्य महारथियों के निकट सम्पर्क में आए और व्यापक अनुभव के स्वामी बने। आपने तत्सम्बन्धी अनेक संस्मरणात्मक लेख एवम् परिचय-टिप्पणियाँ प्रकाशित की हैं। आपकी भाषा सीधी-सादी और बोलचाल की सी होती है। शैली प्रवाह-युक्त एवम् सजीव होती है। उसमें रोचकता एवम् सरलता का अद्भुत सामंजस्य पाया जाता है।

प्रमुख रचनाएँ :—

हमारे आराध्य, संस्मरण, रेखाचित्र आदि।]

यह बतलाने की ज़रूरत नहीं कि महात्मा गांधीजी अत्यन्त परिश्रमी व्यक्ति थे। कभी-कभी तो वे रात को ढाई बजे उठ बैठते और दिन में घंटे आध-घंटे का विश्राम करके रात के दस बजे तक काम करते रहते। उनके सिर पर कार्य का इतना बोझ़ निरन्तर बना रहता था और समस्त देश की चिन्ताएँ उन्हें इतना व्यस्त रखती थीं कि उनके लिए हँसना-हँसाना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। एक बार किसी विलायती संवाद-दाता ने उनसे पूछा—"गांधीजी, क्या आपमें हास्य की प्रवृत्ति भी है ?" उन्होंने तुरन्त जबाब दिया—"यदि मुझमें हास्य की प्रवृत्ति न होती तो मैंने कभी का आत्मघात कर लिया होता।"

महात्माजी का मज़ाक छोटे-बड़े सभी के साथ चलता था। मन-बहलाव के लिए, खास तौर से छोटे बच्चों के साथ वे खूब दिल्लगी करते थे। एक बार महात्माजी ने आश्रम की सभी महिलाओं की मीटिंग अपने कमरे में की। बातचीत का विषय था—उनकी गोद ली हुई अछूत लड़की को अपने चौके में बिठला कर रसोई बनाना कौन सिखलावेगा। डेढ़ घंटे तक गम्भीर वार्तालाप होता रहा। एकत्रित स्त्रियों में कोई भी इस पुण्य कार्य के लिए तैयार नहीं हुई। सबने एक स्वर से ना कर दिया। स्नान कराने, सिर के बाल काढ़ देने, इत्यादि छोटी-छोटी सेवाओं के लिए तो कई स्त्रियाँ राजी हो गईं, पर अपने चौके में उस अछूत बालिका को घुसने देना किसी ने भी स्वीकार न किया। वातावरण कुछ गम्भीर-सा हो चला। महात्माजी ने उस समय मुस्कराकर इतना ही कहा—"तब तो मुझे अभी काफ़ी लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ेगी।" इसके बाद तुरन्त ही उन्होंने छोटे-छोटे बच्चों पर जो अपनी माताओं के साथ बापू के कमरे में चले गए थे, निगाह फेंकी। एक बच्चे के हाथ में उन्हें एक पैसा दीख पड़ा। बस, बापू को मौका मिल गया। उन्होंने उससे कहा—"अरे भाई, पैसा मुझको दे दे।"

चार वर्ष का वह ब्रजवासी बालक काफ़ी चंट था। बोला—"पैसा तो हम नईं देइगे।"

बापू ने कहा—"क्या करोगे पैसे का ?"

बालक ने कहा—"मलाई की बरफ़ खाँइगे।"

बापू ने कहा—"हमको तो मलाई की बरफ़ मिलती नहीं।"

लड़के ने कहा—"हमारे घर चलो, हम तुमै खूब खवावेंगे।"

इसके बाद बापू ने कुछ कहा जिसमें "शुं" गुजराती शब्द आया था, जिसके मानी हैं "क्या।" वह बच्चा "शुं" समझ नहीं सका और सब महिलाएँ हँस पड़ीं। बापू भी हँस पड़े। दूसरे दिन जब उस लड़के के पिता ने बापू की सेवा में उपस्थित होकर माफ़ी माँगी तो बापू ने हँसते हुए सिर्फ़ इतना ही कहा—"अरे, वह बच्चा तो मेरा पुराना दोस्त है।"

पर बापू की इस स्वाभाविक कोमलता के साथ-साथ कठोर नियंत्रण-वृत्ति भी काम करती थी। बापू ने अन्य महिलाओं से तो कुछ नहीं कहा, पर अपने भतीजे श्री मगनलाल गांधी की धर्मपत्नी को हुक्म दिया—"आप अपने मायके चली जावें, पर बच्चों को यहीं छोड़ती जायें। मुझे ऐसी बहू नहीं चाहिए जो मेरी लड़की को चौके के भीतर न घुसने दे।" श्री मगनलालजी की पत्नी को अपने पिताजी के यहाँ जाना पड़ा और छः-सात महीने वहीं रहना पड़ा। यह बतलाने की ज़रूरत नहीं कि उन्होंने उस अछूत लड़की को रसोई में ले जाना स्वीकार कर लिया था।

एक बार बापू की सबेरे की प्रार्थना में शामिल होने के लिए सबेरे पौने-चार बजे मैं भी गया था। मेरे हाथ में एक हॉकी-स्टिक थी। उसे प्रार्थना-स्थल के बाहर रख कर मैं बैठ गया। प्रार्थना समाप्त होने पर ज्यों ही मैंने हॉकी-स्टिक अपने हाथ में ली कि बापू उधर से आ निकले। हँस कर कहा—"ये लाठी तो आपने बड़ी मज़बूत बाँधी है।" मैंने उत्तर दिया—"इसका नाम श्री माखनलालजी चतुर्वेदी ने 'मस्तक-भंजन' रख दिया है।" बापू बोले—"हाँ, और सत्याग्रह आश्रम में मस्तक-भंजन रखनी ही चाहिए।" आसपास खड़े आदमी हँस पड़े।

एक बार महात्माजी ने मुझे सबेरे सात और सवा-सात के बीच का टाइम बातचीत के लिए दिया। मैं उन दिनों नया-नया आश्रम में गया था। मन में सोचा कि बापू कहीं जाते थोड़े ही हैं, दो-चार मिनट की देर भी हो जाय तो क्या। सात बज कर दस-बारह मिनट पर पहुँचा। बापू मुस्करा कर बोले—"तुम्हारा टाइम तो बीत गया। अब भाग जाओ। फिर कभी वक्त तय करके आना।" मुझे बहुत लज्जित होना पड़ा।

एक बार फिर ऐसी ही दुर्घटना घट गई, पर उसमें मेरा अपराध नहीं था। बापू ने एक राजा साहब को शाम के तीन बजे का टाइम दिया था और मेरे सुपुर्द यह काम था कि मैं उनको लाऊँ। उन्हें अहमदाबाद से आना था, इसलिए बस एक मिनट की देर हो गई। जब

मैं राजा साहब को लेकर बापू की सेवा में पहुँचा तो वे बोले—"मैं तो मिनट भर से आप का इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

बापू चाय को स्वास्थ्य के लिए बहुत ही हानिकारक समझते थे पर जिन्हें चाय पीने की आदत पड़ गई थी, उनके लिए वे चाय का समुचित प्रबन्ध अवश्य कर देते थे। एक बार मिस अगेथा हैरिसन नामक एक अंग्रेज महिला उनके साथ यात्रा पर जा रही थीं और उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि उनकी प्रातःकालीन चाय का इंतज़ाम कैसे हो सकेगा। महात्माजी को जब यह पता लगा तो वह बोले—"आप फिक्र न कीजिए। मैंने आपके लिए आधा पौंड ज़हर रख लिया है।"

एक बार मेरे साथ भी बापू ने चाय के बारे में कई मज़ाक किए। कलकत्ते से चल कर वर्धा उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। रात के साढ़े-आठ से नौ बजे तक का टाइम मुझे दिया गया था। ठीक वक्त पर पहुँचा। आध घंटे बातचीत होती रही। चलते वक्त बापू ने कहा—"खूब आराम से चाय पीना"। मैंने कहा—"बापू, क्या आपको मेरे चाय पीने का पता लग गया है?" उन्होंने कहा—"हाँ, काका साहब ने मुझे बतला दिया है कि तुम कलकत्ते में खूब चाय पीने लगे हो।"

मुझे भी उस वक्त मज़ाक सूझा। मैंने कहा—"बापू, आप मि० एंड्रूज़ को छोटा भाई मानते हैं?"

उन्होंने कहा—"हाँ।"

"और वे आप को बड़ा भाई मानते हैं?"

बापू ने कहा—"हाँ।"

मैंने तुरन्त ही कहा—"तो मैं बड़े भाई की बात न मान कर छोटे भाई की बात मानता हूँ।"

बापू हँस कर बोले—"तब तो मैं एंड्रूज़ को लिख दूँगा कि तुमको अच्छा शिष्य मिल गया है।"

फिर बापू ने गम्भीरता पूर्वक कहा—"रात के ढाई बजे का उठा हुआ हूँ और अब नौ बज रहे हैं। दिन में बस बीस मिनट आराम मिला है।"

मैं चकित रह गया। अठारह घंटे मेहनत करने के बाद भी बापू कितने सजीव थे; मानो वे हमारी काहिली का प्रायश्चित कर रहे थे।

संध्या समय जब महात्माजी डच-गायना प्रवासी भारतीयों के लिए संदेश लिखाने बैठे तो मैंने अपनी जेब से फाउन्टेन पेन निकाला। तुरन्त ही बापू ने कहा—"कब से फाउन्टेन पेन से लिखते हो?"

मैंने कहा—"कई साल हो गए।"

"कितने साल?"

मैंने कहा—"ठीक-ठीक नहीं बतला सकता।"

तब बापू ने कहा—"दक्षिण अफ़्रीका में मेरे पास भी फ़ाउन्टेन पेन था, पर अब तो कलम से लिखता हूँ। डच-गायना वाले भी क्या कहेंगे कि इनके पास घर की कलम भी नहीं।"

तुरन्त चाकू और कलम मँगाई गई। पर मैं जिस कागज पर लिखने चला था, वह था बढ़िया बैंक पेपर। बापू ने कहा—"यह बढ़िया कागज़ हम लोगों को कहाँ मिल सकता है। यह तो तुम्हारे पत्र के ऑफिस वाले को ही मिलता है जहाँ चाय भी मिलती है। हम तो कोरा पानी पीने वाले गरीब आदमी ठहरे।"

मैं लज्जित हो गया। फिर बापू गम्भीर होकर बोले—"मेरा सन्देश स्वदेशी कागज़ पर लिखो। आज तो हम लोगों ने आश्रम में कार्ड और लिफाफे भी बनवाये हैं।" हाथ का बना कागज़ लाया गया और मैंने नेजे की कलम से और घर की बनी स्याही से बापू का सन्देश लिखा।

बापू अपने अधीनस्थों को पूरी-पूरी स्वाधीनता देते थे और वे भी उनसे मज़ाक करने में न चूकते थे। मैं भी यह धृष्टता कर बैठता था। जब श्री पद्मजा नायडू के लिए 'काफ़ी' का सब सामान लाया गया तो बापू ने हँस कर कहा, "ये सब साज़ सामान!"

मैंने कहा—"देखिए बापू, मेरी वोट बढ़ रही है।"

"कैसे?"

मैंने कहा—"महादेव भाई चाय पीते हैं, बा काफ़ी पीती हैं और पद्मजा जी भी काफ़ी पीती हैं और मैं चाय। चार वोट हो गईं।"

बापू ने तुरन्त उत्तर दिया—"बुरी चीज़ों के प्रचार के लिए वोट की ज़रूरत थोड़े ही पड़ती है। वे तो अपने आप फैलती हैं।"

बापू मजाक में पीछे रहने वाले आदमी नहीं थे। वे बड़े हाजिर-जबाब थे।

एक बार विद्यापीठ के प्रिंसिपल कृपालानीजी अध्यापकों के साथ महात्माजी की सेवा में पहुँचे। बातचीत के प्रारम्भ होने के पहले ही कृपालानीजी बोले—"बापू, जब तक हम लोग आपसे दूर रहते हैं, हमारी अक़ल ठीक रहती है; पर आपके पास आते ही खराब हो जाती है।" बापू हँसकर बोले—"तब तो मैं ही आपकी खराब अक़ल का ज़िम्मेवार ठहरा।" खूब हँसी हुई।

कलकत्ते में मुझे बापू ने बीस मिनट टाइम दिया था—सबेरे पौने चार बजे का। अकेले जाने के बजाय मैं १६-१७ आदमियों को साथ लेता गया। जब ज़ीने पर चढ़ने लगा तो महादेव भाई कुछ नाराज़ भी हुए, बोले—"आप तो आश्रम में रह चुके हैं। यह क्या बे-नियम कार्रवाई करते हैं?" पर महात्माजी ने सिर्फ़ इतना ही कहा—"तुम तो फ़ौज की फ़ौज ले आये?"

मैंने कहा—"क्या करता, ये लोग माने ही नहीं। मैंने इन्हें बचन दे रखा था कि बापू के दर्शन तुम्हें निकट से कराऊँगा।"

बीस मिनट तक वार्तालाप होता रहा। जब प्रार्थना के लिए बापू उठे तो मैंने कहा—"बापू, मैं तो अपने मासिक पत्र में आपके खिलाफ़ बहुत लिखा करता हूँ।"

बापू ने कहा—"सो तो ठीक है, पर कोई सुनता भी है?" सब हँस पड़े।

कानपुर कांग्रेस की बात है। मैंने एक प्रस्ताव भेजा था कि कांग्रेस में प्रवासी विभाग स्थापित किया जाय। बापू से उस बारे में पत्र-व्यवहार

भी हुआ था। कानपुर पहुँच कर ज्यों ही बापू के दर्शन किए, उन्होंने सबसे पहले पूछा—"आप की बीमारी का क्या हाल है?" मैं चकित रह गया। मेरी अस्वस्थता के बारे में आश्रम में एक बार उनसे ज़िक्र किया था और बापू ने उसे याद रक्खा।

मुनि श्री जिनविजयजी न बापू का एक क़िस्सा सुनाया था। बापू पहले मोटर से बाहर निकले, पर थोड़ी दूर चल कर कोने में अपनी मोटर खड़ी कर ली। इसके दो मिनट बाद ही पण्डित मोतीलालजी नेहरू और मुनिजी की मोटर निकली। मोतीलालजी न मुनिजी से कहा—"देखा आपने? महात्माजी ने मेरे ख़्याल से अपनी मोटर रोक रखी है। चल कर उनसे कारण पूछें।" पण्डितजी ने जब पूछा तो महात्माजी बोले—"मैं यह नहीं चाहता था कि आपको धूल फाँकनी पड़े। मैं तो आपको ज़्यादा दिन ज़िन्दा देखना चाहता हूँ।"

महात्माजी के मज़ाक के, हाजिर-जवाबी के और उनकी जागरूकता के सैकड़ों ही किस्से हैं जो उनके भक्तों को समय-समय पर याद आते रहते हैं। साथ ही अपनी धृष्टता का ख़्याल करके लज्जा का बोध भी होता है। ऐसे अवतारी महापुरुष मर्यादापुरुषोत्तम के साथ किसी भी प्रकार का मज़ाक़ हिमाक़त तो था ही, पर वे अत्यन्त क्षमाशील थे और सबको पूर्ण स्वाधीनता देने के पक्षपाती। उनकी पावन स्मृति में सहस्त्रों बार प्रणाम!!

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। "बापू मज़ाक़ में पीछे रहने वाले आदमी नहीं थे। वे बड़े हाज़िरजवाब थे।" उदाहरण देकर इस कथन का समर्थन कीजिये।

२। गांधीजी के हरिजन-प्रेम, नियमितता और व्यसन-त्याग पर क्या विचार थे? प्रमाणसहित उत्तर दीजिये।

३। निबन्ध लिखिये :—
"महामानव गांधीजी"।

शरणागत

श्री वृन्दाबनलाल वर्मा

[श्री वृन्दाबनलाल वर्मा झाँसी जिले के अधिवासी हैं। आप बी० ए०, एल् एल्० बी० एडवोकेट हैं और झाँसी में वकालत करते हैं। इसीके साथ सन् १९०५ से आप उपन्यास, नाटक, कहानियाँ आदि लिख रहे हैं। संगीत और शिकार के भी आप विशेष प्रेमी हैं।

वर्माजी हिन्दी के ऐतिहासिक उन्यासकारों में सर्वश्रेष्ठ हैं। आपने बुन्देलखंड के इतिहास, लोक-जीवन, संस्कृति आदि का गंभीर अध्ययन किया है। उसीका साकार-दर्शन हम इनके उपन्यासों में पाते हैं। वर्माजी हिन्दी के वॉल्टर-स्कॉट हैं। आपकी भाषा हिन्दी का सरल रूप लिए हुए है। पर भाषा में यथावसर बुन्देलखंडी प्रयोग आ जाते हैं। उनसे औपन्यासिक स्वाभाविकता और भी बढ़ जाती है। आपने कई एकांकी नाटक भी लिखे हैं। आप पर हिन्दी जगत को गर्व है।

प्रमुख रचनाएँ :—

गढ़कुंढार, विराटा की पद्मिनी, कुंडलीचक्र, झाँसी की रानी, मृगनयनी, कचनार आदि।]

रज्जब अपना रोज़गार करके ललितपुर लौट रहा था। साथमें स्त्री थी, और गाँठ में दो-तीन सौ की बड़ी रक़म। मार्ग बीहड़ था और सुनसान! ललितपुर काफ़ी दूर था, बसेरा कहीं-न-कहीं लेना ही था, इसलिये उसने मडपुरा नामक गाँव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया था, रक़म पास में थी और बैलगाड़ी किराये पर करने में खर्च ज़्यादा पड़ता, इसलिये रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी, और पाजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत-से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत-से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीदकर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात-भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की। किसी ने भी मंज़ूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और लुके-छिपे बेचे थे। ठहराने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं, इसलिये सबों ने इनकार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी ज़मीन थी, जिसको किसान जोते हुए थे। निज का हल-बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परंतु उसको गाँववाले 'गढ़ी' के आदर-व्यंजक शब्द से पुकारा करते थे, और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से सम्बोधन करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वरग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—"दाऊजू एक बिंनती है।"

ठाकुर ने बिना रत्ती-भर इधर-उधर हिले-डुले पूछा "क्या ?"

रज्जब बोला—"मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को ज़ोर से बुख़ार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी। इसलिये रात-भर के लिये कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।"

"कौन लोग हो ?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी आँखों में कठोरता छा गयी। बोला—"जानता है, यह किसका घर है। यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने ?"

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है। इसलिये शरण में आया हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गयी। ज़रा नरम स्वर में बोला––"किसी ने तुमको बसेरा नहीं दिया ?"

"नहीं महाराज !" रज्जब ने उत्तर दिया––"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाज़े के बाहर ही एक कोने से चिपटकर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी-सी बनकर सिमट गयी।

ठाकुर ने कहा––"तुम अपनी चिलम लिये हो ?"

"हाँ, सरकार !" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला––"तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भी भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब वे दोनों भीतर आ गये, ठाकुर ने पूछा––"तुम कब यहाँ से उठकर चले जाओगे ?" जवाब मिला––"अँधेरे में ही महाराज ! खाने के लिये रोटियाँ बाँधे हूँ, इसलिये पकाने की ज़रूरत न पड़ेगी।"

"तुम्हारा नाम ?"

"रज्जब।"

(२)

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा––"कहाँ से आ रहे हो ?"

रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किसलिये गये थे ?"

"अपने रोज़गार के लिये।"

"काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ, पेट के लिये करना ही पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिये जो रोज़गार मुकर्रर किया है, वही उसको करना पड़ता है।"

"क्या नफ़ा हुआ ?" प्रश्न करने में ठाकुर को ज़रा संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर।

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है। यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई ज़िद नहीं की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला—"बड़े भोर उठकर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबीयत भी अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन-भर के थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफ़ी रात गये, कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी-सी रज़ाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—"दाऊजू, आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल संध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा—"आज ज़रूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था?"

"हाँ," आगन्तुक बोला—"एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परन्तु हम लोग ज़रा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे, ज़रा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा न छूएँगे।"

"क्यों?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है?"

"परन्तु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ में आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने कुछ सोचकर अपने साथियों को बाहर-का-बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी। ठाकुर भी सो गया।

(३)

सबेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुख़ार तो हलका हो गया था, परन्तु शरीर-भर में पीड़ा थी, और वह एक क़दम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देखकर कुपित हो गया। रज्जब से बोला "मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किये हैं। गाँव-भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह-की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ। इसी समय!"

रज्जब ने बहुत बिनती की, परन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव-भर उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके भी मन पर था। इसलिये रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दूमात्र को मन-ही-मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर-आध-पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफ़ी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिये राज़ी हुआ। इतने में दोपहर हो गयी। उसकी पत्नी को ज़ोर का बुख़ार हो आया। वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिये यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम-से-कम कँपकँपी बन्द न हो जाय।

घंटे-डेढ़-घंटे बाद उसकी कँपकँपी बन्द हो गयी, परन्तु ज्वर बहुत तेज़ हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया, और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—"दिन-भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो!"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिये कहा।

वह बोला—"इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो। मैं तो घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत होकर कहने लगा—"भाई, आफ़त सबके ऊपर आती है। मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

क़साई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हँसी आ गयी।

उसको टस-से-मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिये। तब उसने गाड़ी हाँकी।

(४)

पाँच-छः मील चलने के बाद संध्या हो गयी। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली। रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही और दे देने पड़े थे। इससे गाड़ीवान पर क्रोध था; परन्तु उसके प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा?"

"बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।"

"किसके यहाँ?"

"किसी के यहाँ भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सबेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल का फिर पैसा माँग उठना।"

"कैसे माँग उठूँगा ? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूँगा ?"

"जैसे आज गाँव में हठ करके माँगा था। बेटा, ललितपुर होता, तो बतला देता !"

"क्या बतला देते ? क्या सेंत-मेंत का गाड़ी में बैठना चाहते थे ?"

"क्यों बे, क्या रुपये देकर भी सेंत-मेंत का बैठना कहलाता है ? जानता है, मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो साले को यहीं छुरे से काटकर कहीं फेंक दूँगा, और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।"

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा, अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला, अब निकला। रज्जब की बात सुनकर उसकी हड्डी काँप गयी। ऐसा जान पड़ा, मानो पसलियों को उसकी ठंडी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा। उसने सोचा—"गाँव के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्लागुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा, परन्तु और आगे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले !"

(५)

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठककर खड़े हो गये। रज्जब सामने न देख रहा था, इसलिये ज़रा कड़ककर गाड़ीवान से बोला "क्यों बे बदमाश, सो गया क्या ?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कंठ से निकला—"खबरदार, जो आगे बढ़ा !"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लठ लेकर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें तुरन्त ही एक ने बैलों की जुँआरी पर एक लठ पटका और दो दायें-बायें आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—"मालिक, मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझे कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है?" एक ने गरजकर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गयी। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत गरीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिये।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी। गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला—"महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये से गाड़ी लिये जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन-चार आने पैसे ही हैं।"

"और यह कौन है? बतला।" उन लोगों में से एक ने पूछा।

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—"ललितपुर का एक क़साई।"

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गयी थी, वह वहीं रह गयी। लाठीवाले के मुँह से निकला—"तुम क़साई हो? सच बतलाओ।"

"हाँ महाराज!" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—"मैं बहुत ग़रीब हूँ। हाथ जोड़ता हूँ, मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत ज़ोर से कराही।

लाठीवाले उस आदमी ने एक साथी से कान में कहा—"उसका नाम रज्जब है। छोड़ो, चलें यहाँ से।"

उसने न माना, बोला—"इसका खोपड़ा चकनाचूर करो दाऊजू, यदि वैसे न माने तो........। क़साई-असाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा," उसने कहा—"इस पर हाथ नहीं पसारेंगे और न इसका पैसा छूएँगे।"

दूसरा बोला—"क्या क़साई होने के डर से? दाऊजू, आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं, मैं देखता हूँ।" और वह तुरन्त लाठी लेकर

गाड़ी में चढ़ गया। लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर उसने तुरंत रुपया-पैसा निकालकर दे देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने ज़रा तीव्र स्वर में कहा––"नीचे उतर आओ। उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हो, मेरी बला से" गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया––"मैं कसाइयों की दवा हूँ।" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा––"खबरदार, जो उसे छूआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चूर किये देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

गाड़ीवान लठैत झख-सी मारकर नीचे उतर आया।

नीचेवाले व्यक्ति ने कहा––"सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला––"जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना, तब लौटना; नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और, तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की, तो भूसी की आग में जला कर खाक कर दूँगा।"

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा––"दाऊजू, आगे से कभी आप के साथ न आऊँगा।"

दाऊजू ने कहा––"न आना। मैं अकेला ही बहुत कर गुज़रता हूँ। परन्तु बुन्देला शरणागत के साथ घात नहीं करता। इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। 'शरणागत' कहानी की विशेषताओं को सविस्तार स्पष्ट कीजिए।
२। "बुंदेला शरणागत के साथ घात नहीं करता।"––इस कथन पर टिप्पणी लिखिये।
३। इस कहानी को संक्षेप में लिखिये।

घीसा

श्रीमती महादेवी वर्मा

[श्रीमती महादेवी वर्मा वैसे तो हिन्दी-साहित्य की एक उत्कृष्ट कवयित्री हैं, किन्तु गद्य के क्षेत्र में भी इनका स्थान किसी प्रकार गौण नहीं कहा जा सकता। रेखाचित्रों और संस्मरणों के रूप में आपने जो कृतियाँ हिन्दी जगत को प्रदान की हैं, वे सचमुच अनूठी हैं। इन कृतियों में आपने जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों को अभिव्यक्ति दी है। इनमें आपका भावुक कवि-हृदय, संवेदनशील व्यक्तित्व, और सहानुभूतिपूर्ण स्वभाव दृष्टि-गोचर होता है। वास्तव में महादेवीजी के गद्य-ग्रंथ हिन्दी के बहुमूल्य रत्न हैं।

कवयित्री महादेवीजी चित्रकार हैं, सम्पादिका हैं, प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या हैं और साहित्यकार संसद की संस्थापिका हैं। इस प्रकार महादेवीजी की असीम शक्ति विविध जनोपयोगी कार्यों में प्रवहमान होती है।

आपकी भाषा कवित्वपूर्ण और शैली मनोरम है। संस्कृत की महान विदुषी होने के कारण आपकी भाषा कहीं कहीं तत्सम् शब्दों द्वारा बोझिल अवश्य हो जाती है। पर उसमें सजीवता और रोचकता की मात्रा कम नहीं होने पाती।

प्रमुख रचनाएँ :—

गद्य :—अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ, शृंखला की कड़ियाँ।
पद्य :—दीपशिखा, यामा, सांध्यगीत, नीरजा, निहार आदि।]

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाँव के उस मलिन सहमे नन्हें से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है।

गंगा पार झूँसी के खंडहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है उसे देख कर ही सम्भवत: लोग जन्म-जन्मान्तर के सम्बन्ध का व्यंग्य करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिये सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उस गाँव के बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्य्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चन्दे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो आये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथ में कड़े पहने धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लम्बा कुरता पहने हुये खेत में डराने के लिये खड़े किये हुये नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की अपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभा वाले उड़ते हुये दुकूल पर रात्रि ने मानों छिप कर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाव वाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, काग़ज़, कलम आदि सँभाल कर नाव पर रख कर बढ़ते अन्धकार पर खिझला कर बुदबुदा रही थी। नाव की ओर

बढ़ते हुये मेरे पैर, फैलते हुये अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। कन्धे पर हाथ रख कर वह दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुये थी। उसने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और कुछ संकेतों में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं है, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके। दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रंग, पर गठन में और अधिक सुडौल, मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आँखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बन्द किये हुये पतले होंठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुये छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हुई हड्डियों वाली गर्दन को सँभाले हुये झुके कन्धों से, रक्त-हीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुये नाखूनों-युक्त हाथों वाली पतली बाहें ऐसी झूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुञ्जाइश न शरीर में।

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे-से रहते थे। इसीलिये नहीं कि वह कोरी था वरन् इसलिये कि किसी की माँ, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़ कर समझा दी थी।—यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सब से अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने भालने वाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे

के समान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटा कर जब वह मज़दूरी के काम में लग जाती थी तब पेट के बल घसिट-घसिट कर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोक कर अनेक प्रकार की भावभंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी न जाना!

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़ कर वह थोड़ी बढ़ईगीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गाँव के चौखट-किवाड़ बना कर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाटबाट से रहना आरम्भ किया तब अचानक हैजे के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारतावश ही उसकी जीवन नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत उसे नमक मिर्च लगा कर तीता भी कर दिया। और बिना स्वर ताल के आँसू गिरा कर, बाल खोल कर, चूड़ियाँ फोड़ कर और बिना किनारे की धोती पहन कर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वाँग भरना आरम्भ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है।

यह कथा अनेक क्षेपकोंमय विस्तार के साथ सुनायी तो गई थी मेरा

मन फेरने के लिये और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर न था क्योंकि वह सबको अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-छोटे काम का उत्तरदातिव बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ——परन्तु उस उपेक्षिता पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्बल हो सकता है यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरु-भक्ति देख कर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे-दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को माँ के मजदूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफ़ेद नाव की झलक दिखायी पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टाँगों पर तीर के

समान उड़ता और बिना नाम लिए हुए ही साथियों को सुनाने के लिये गुरु साहब, गुरु साहब करता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता जहाँ न जाने कितनी बार दुहराये-तिहराये हुए कार्य-क्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बार-बार झाड़ पोंछ कर बिछायी जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे काँच की दावात, अपने टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे हरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकाल कर यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़ कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार दिन ही मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े से समय और इनेगिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला वह चित्रों के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगाजी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है, गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे। पर घीसा गायब था। पूछने पर लड़के काना-फूँसी करने या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनाने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़ कर समझना पड़ा कि घीसा माँ से कपड़ा धोने के साबुन

के लिए तभी से कह रहा था—माँ को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़ कर पहले साबुन लेने गयी। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा धोकर साफ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे! किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अँगौछा जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अँगौछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आँखें ही नहीं मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५–६ सेर जलेबियाँ ले गयी पर कुछ तौलनेवाले की सफाई से, कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी और की याद आ गयी। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया यह कोई न जान सका। थोड़ी देर बाद घीसा लौटा। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखईवाले छन्ने में दो जलेबियाँ लपेट कर वह माई के लिए छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना माँ के, कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा लीं। 'और चाहिए' पूछने पर उसकी संकोच-भरी आँखें झुक गयीं—ओठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली हैं। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रँगों से अंकित है जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक

पहुँच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी, परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी माँ स्वयं बैठी रही, फिर एक अंधी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं यथाक्रम बच्चों को बिदा दे घीसा को देखने चली; परन्तु पीपल से पचास पग दूर पहुँचते न पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों से गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी, आँखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होनेवाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ता-जनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनियाँ की आजी से माँगना ठीक न समझ कर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौट कर दरवाजे से ही अंधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार, कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गयी। पार तो मुझे पहुँचना था ही पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझा कर जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में गहरा रंग भर कर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-

करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठ कर दूर-दूर से आये हुए बहुत-से विद्यार्थी हैं जो अपनी माँ के पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायँगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं।—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा तो उसके भगवानजी गुस्सा हो जायँगे क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं, आदि-आदि। उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लाने वाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँध कर उन्मत्त के समान घूमने वाली गर्मी की हवा से उसका रोज संग्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते ही वह पाठशाला धूल-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिप कर, तथा कंकालशेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते वायु की संतप्त सरसर से मुखरित होकर उस श्रान्त बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक वहाँ रहने का निश्चय किया, परन्तु पता चला घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बारबार धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागरिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भंग करने के लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपट कर उस दिन पर उँगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा।

कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न। कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियाँ रख कर गिने जायँ या कोयले की लकीरें खींच कर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागज़ों पर अकारण ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहाँ से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा-सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डॉक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था––ऑपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूँगी या नहीं लौटूँगी यही सोचते-सोचते मैंने फिर कर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली तो वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देना है––यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदन-शक्ति से जान रहा था इसमें सन्देह नहीं था। परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे बिछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगने वाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था जिसमें बीच में कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत् ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बन्द गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत––तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिये उस मलिन शरीर को बनाने वाला ईश्वर उस बूढ़े

आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रख कर निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान-जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गयी तब उसे अकेले खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेतवाले का लड़का था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नज़र थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता रहता था कि जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिये परोसा लगाने वाले पागल होते हैं। उसने कहा पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिये पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिये कटवाना पड़ा—मीठा है या नहीं यह देखने के लिये उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोयेगा—छुट्टी भर रोयेगा, ले जावें तो वह रोज नहा-धोकर पेड़ के नीचे पड़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके जा पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबंध कर मैं बाहर चली गयी और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवानजी ने सदा के लिये पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है पर सम्भव

है आज कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूँगी। अभी मेरे लिये इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूँढ़ती रहूँ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। 'घीसा' कहानी को सरल हिन्दी में लिखिये।
२। इस कहानी के आधार पर घीसा का शब्दचित्र प्रस्तुत कीजिये।
३। निबन्ध लिखिये :—
"हमारी समस्याएँ"।

बाघ से भिड़न्त

श्री श्रीराम शर्मा

[पं० श्रीराम शर्मा हिन्दी में शिकार साहित्य के एकमात्र लेखक हैं। आप ही ने अपने शिकार के अनुभवों को लेखबद्ध कर हिन्दी जनता का ध्यान शिकार साहित्य की उपयोगिता एवम् आवश्यकता की ओर खींचा। आप शिकार तथा सैर के बहुत शौकीन हैं। जान को खतरे में डालकर भी आपने हिंस्र पशुओं का शिकार घने जंगलों में जाकर किया है। उसी का रोमांचकारी, सजीव एवम् रोचक वर्णन आपकी रचनाओं में होता है।

प्रमुख रचनाएँ :—

शिकार, प्राणों का सौदा, बोलती प्रतिमा आदि।]

सन् १९२४ की बात है। समय सायंकाल के साढ़े चार बजे। टिहरी गढ़वाल का इलाका। महीना दिसम्बर का। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था और चाय पीने में मजा आ रहा था कि किसी ने बाहर से पुकारा, "जरा बाहर आइए। एक आदमी आया है और बाघ की खबर लाया है।" बाघ का नाम सुनकर मैं उछल पड़ा। चाय का प्याला वहीं रख कर झट से बाहर आ गया।

बाहर आकर देखा कि पश्मीने की चादर ओढ़े मेरे शिकारी मित्र लक्ष्मी-दत्त थपलियाल खड़े हैं और उनकी बगल में एक हाड़ का कंकाल बूढ़ा खड़ा है। उसकी मुखाकृति उसकी अंतर्वेदना की द्योतक थी। कष्ट, विपत्ति और समय के उलट-फेर ने उसकी गति तूफान में फँसे जहाज़ की सी कर दी थी।

एक तो दिन भर की थकावट, दूसरे कुसमय और उस पर कड़ाके का जाड़ा। तबियत बाहर निकलने को न करती थी। पर उस बूढ़े की आँखों में एक खिचाव था जो हृद्तंत्री के तारों को अपनी ओर खींचता था। वह खिचाव प्रेम का आकर्षण-सा न था, वरन् कंपायमान, भावी

आशंका से भयभीत बलिपशु की आँखों से निकलती हुई मूक याचना-सा खिचाव था।

वन-बीहड़-सहचरी बन्दूक उठाई। कारतूस जेब में डाले और लक्ष्मीदत्त-जी तथा किसान के साथ चल पड़ा। पहाड़ी पर कुछ ही आगे गए होंगे कि बूढ़े ने कंधे पर हाथ रख कर कहा, "मालिक! ऊपर देखो। ठीक उस डाँड़े पर मेरी गाय मरी पड़ी है और वहाँ से चार फर्लांग पर पहाड़ के दूसरी ओर दूसरी गाय मरी पड़ी है।" बूढ़े की बात सुनकर बाघ मारने की योजना बनाई। लक्ष्मीदत्तजी और मुझमें चार-पाँच मिनट तक परामर्श हुआ। परामर्श क्या था, एक प्रकार की युद्ध-कांफ्रेंस थी जिसमें अपने शत्रु की सब चालों का ख्याल किया गया।

परामर्श से हम लोग इस नतीजे पर न पहुँचे कि एक ही बाघ ने दो गायों को मारा होगा। दो बाघों की आशंका से हम लोगों ने अपने दल को दो भागों में विभक्त किया। लक्ष्मीदत्तजी दूसरी गाय की लाश की ओर चले। मैं डाँड़े की ओर चला और यह निश्चय हुआ कि समय अधिक हो जाने पर लाश पर आज बैठना ठीक नहीं, क्योंकि बैठने के लिए स्थान दिन में चार बजे तक बन जाना चाहिए, जिससे बाघ को किसी बात का शक न हो।

स्मरण रहे, बाघ जंगल का कूटनीतिज्ञ चाणक्य होता है। छोटी-सी हिलती पत्ती से, आसन बदलने से और कोई-कोई तो कहते हैं कि पलक की आवाज़ से बाघ अपने शत्रु को पहचान लेता है, और फिर लाश पर नहीं आता। इसलिए बाघ को मारने के लिए झाड़ी और काँटों का जो स्थान बनाते हैं वह दिन में चार बजे तक बना लेते हैं। बनाते समय कुछ आदमी इधर-उधर बैठे रहते हैं जिससे बाघ यह समझे कि किसान घास काट रहे हैं। जब शिकारी छिप कर बैठ जाते हैं तब और लोग बातें करते चले जाते हैं जिससे बाघ समझे कि घास काटने वाले चले गए और उसका भोजन बेखटके पड़ा है। ऐसा होने पर भी बाघ एकदम लाश पर नहीं आता। छिप-छिप कर, रुक-रुक कर और देख-देख कर वह एक-एक गज़ बढ़ता है।

लक्ष्मीदत्तजी बूढ़े के साथ छोटी गाय की लाश की ओर चले। हम दोनों को गाँव में मिलना था।

मुझे एक मील के लगभग पहाड़ की चोटी पर पहुँचना था और समय तंग हो रहा था। जंगल में बाघ अपने शिकार पर चार-पाँच बजे ही आ जाता है इसलिए मैं बड़ा चौकन्ना होकर चल रहा था। पहाड़ की चोटी पर डूबते हुए सूरज की लाल किरणें ग़ज़ब ढा रही थीं। रात्रि-आगमन के चिन्ह चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहे थे। चिड़ियाँ झाड़ियों में चहचहा रही थीं, किसान थके-माँदे घर लौट रहे थे। मैं चढ़ाई पर एक-एक पैर सँभाल कर रख रहा था कि कहीं चुपचाप बाघ दिखाई पड़ जाय और बाघ मुझे न देख पावे तो फिर एक बार जीवन की बाजी लगाकर फ़ायर कर दिया जाय। आधी चढ़ाई के उपरान्त मैं एक चट्टान के किनारे रुका और गिद्ध-दृष्टि से पहाड़ की चोटी की ओर देखा। एक झाड़ी के आस-पास चिड़ियाँ कुछ विचित्र रूप से चहचहा रही थीं। उधर जो देखा तो हृदय की धड़कन एक दम बढ़ गई। सामने तीन सौ गज़ पर झाड़ी के सहारे बाघ खड़ा हुआ दिग्दर्शन कर रहा था और चिड़ियाँ अपनी शक्ति भर उसके विरोध का प्रदर्शन कर रही थीं। मेरे पास राइफ़ल न थी, बन्दूक थी। राइफ़ल न लाने की मूर्खता पर अपने को हज़ार बार कोसा, क्योंकि १२ नम्बर यानी ट्वैल्व बोर बन्दूक की मार इतनी दूर नहीं होती।

बाघ थोड़ी देर बाद अपने शिकार की ओर शाही शान से चला। मैंने अपना मार्ग छोड़कर कुछ चक्कर काटकर पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की ठानी जिससे बाघ पर बगल से छिप कर फ़ायर किया जा सके। बाघ मुझसे तीन सौ गज़ ऊपर था। वह पहाड़ के ऊपर से ही अपने शिकार की ओर जा रहा था। मैंने आगे बढ़कर उसके रास्ते में जाना चाहा।

दोनों को एक ही स्थान पर पहुँचना था, जिस प्रकार दो गलियों से कोई चल कर गलियों के मोड़ पर मिलते हैं और जब तक आमने-सामने नहीं आ जाते तब तक एक-दूसरे को नहीं देख सकते, ठीक इसी प्रकार मैं

इस विचार से मोड़ की ओर चला कि कहीं पीछे से पचास-साठ गज़ की दूरी पर बाघ दिखाई पड़ा और मौका हुआ तो उसे मारने की चेष्टा करूँगा। यह केवल अंदाज़ ही अंदाज था। यह स्वप्न में भी विचार न था कि अंदाज़ इतना ठीक निकलेगा। जूते उतार कर मैं ऊपर की ओर लपका। जूते इसलिए उतार दिये कि तनिक भी आहट न हो। जब पहाड़ की चोटी का मोड़ पचास-साठ गज़ रह गया, तब मैं धीरे-धीरे एक-एक पैर गिन कर बंदूक को बगल में दबाए और हाथ बंदूक के घोड़े पर रक्खे आगे बढ़ा। पर ज्यों ही मैं मोड़ पर पहुँचा त्यों ही दूसरी ओर से बाघ आ गया। जंगल में स्वच्छन्द रूप से अभिमान के साथ मस्त चाल से चलते हुए बाघ को इतने समीप से मैंने कभी न देखा था। झुकी हुई अधखुली आँखें, श्वेत दाँतों से कुछ बाहर निकली हुई लाल जीभ—साक्षात् यमराज की मूर्ति मेरे सामने आ गई। हृदय की धड़कन कुछ सेकिण्ड के लिए न मालूम कितनी तीव्र हो गई। बाघ से मुझे सहसा भय नहीं लगता, पर इस आकस्मिक भिड़न्त के लिए मैं तैयार न था। पीछे हटने का समय न था। ऐसे अवसरों पर मनुष्य की सहायक पशु बुद्धि ही होती है, और प्रेरक कोई विशेष शक्ति। ज्यों ही बाघ की दृष्टि मुझपर पड़ी त्यों ही वह गरज कर पिछले पाँव पर खड़ा हो गया। वह मेरे इतने समीप था कि मैं बन्दूक की नाल से उसे छू सकता था। पहले तो मैं काँपा और यह मालूम हुआ कि हृदय नीचे पैरों की ओर भीतर ही भीतर सरक रहा हो। बाद को निराशा-जन्य साहस अथवा उद्वेग ने मुझे मृत्यु का सामना करने योग्य बना दिया। मैंने समझ लिया कि मैं फ़ायर करूँ या न करूँ, बाघ मुझे मार ही देगा।

उधर बाघ ने भी समझा कि यह दो पैर का प्राणी काली-काली लोहे की वस्तु लिए उसकी जान की खातिर आया है, उसके खून का प्यासा है। उसके मुँह से ग्रास छीने तो छीने, पर उसकी जान का ग्राहक दो पैरों का यह जीव इस प्रकार अपमान करके उसे मारने आया है। यह नहीं हो सकता। इस अपमान और धृष्टता का एक ही उत्तर था और वह यह कि वह अपने शत्रु की हस्ती को ही मिटा दे।

इधर मैंने ख्याल किया कि बाघ गिरते हुए भी एक चोट करेगा और यदि वह मेरे खून को न भी पी सकेगा तो नीचे खड्डे में तो गिरा ही देगा। खड्डे में एक मील नीचे गिरने पर मेरे अन्त का पता भी कोई न देगा। यद्यपि मैं बंदूक का घोड़ा चढ़ाए खड़ा था, मैंने निश्चय कर लिया था कि पहले मैं आक्रमण नहीं करूँगा। यदि बाघ मुझपर झपटा तो फ़ायर करूँगा और आत्म-रक्षा के लिए जो कुछ बन पड़ेगा, करूँगा।

एक मिनट तक हम दोनों डटे रहे। बाघ गुर्रा रहा था। उसकी आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। मैंने न फ़ायर किया और न उसने आक्रमण। वह एक मिनट युग के समान था। ज्यों ही वह मुड़ा मैंने समझा कि बस मेरे ऊपर आया। बंदूक दाग़ ही तो दी। जंगल गूंज गया। गोली बाघ के पेट में लगी। मैंने बाघ को गिरते देखा। बन्दूक छोड़ मैं नीचे को दौड़ा पर गिर कर लुढ़कने लगा। जिस बात का डर था, वही हुआ। खड्डे की ओर मैं फुटबाल की भाँति लुढ़कने लगा। चालीस-पचास गज़ लुढ़का हूँगा कि हृदय दहलाने वाली बाघ की गर्जन कान पर मालूम हुई।

मौत के अनेक बहाने होते हैं और जीवन-रक्षा के अनेक सहारे। यदि जीवन होता है तो मनुष्य पहाड़ की चोटी से गिर के बच जाता है और मरने के लिए तो सीढ़ियों से गिरना ही काफ़ी है। मुझे बचना था। सामने खड्डे की ओर तेज़ी के साथ लुढ़कने के मार्ग में एक चीड़ का वृक्ष था। इतना होश-हवास तो था ही। आठ-दस गज़ ऊपर से पेड़ देख लिया। उसी ओर जाने के लिए हाथ-पैर पीटे और उसी पेड़ से जा टकराया। पीछे से बाघ के घसीटने की सरसराहट आ रही थी। पेड़ से ठोकर खा कर रुका, झटपट ऊपर चढ़ा। इतने ही में विद्युत गति से बाघ भी आ गया और उचक कर मुझ पर पंजा मारा। उसके पंजे में मेरा नेकर आ गया। नेकर फट गया, पर मैं ऊपर निकल गया।

बाघ की कमर टूट गई थी। इसीलिए वह पेड़ पर न चढ़ सका। पेड़ पर ऊपर बैठ कर मैंने दम लिया। नीचे बाघ अन्तिम साँसें ले रहा था। एक झटके से बाघ का दम निकल गया।

रात के नौ बजे लालटेन लेकर कुछ पहाड़ी उस रास्ते से होकर निकले। पेड़ से मैंने आवाज़ दी और बड़ी कठिनाई से मैं पेड़ से उतर कर हाथ-पैरों के बल रास्ते पर पहुँचा। बाघ की लाश उठाने का काम सुबह पर छोड़ा गया और बन्दूक की तलाश भी प्रातःकाल पर।

इतने दिनों बाद भी बाघ से उस दिन बाल-बाल बचने की घटना ताज़ी है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। इस साहस-कथा को आप अपने शब्दों में लिखिये।
२। सिद्ध कीजिये कि बाघ जंगल का कुटनीतिज्ञ चाणक्य होता है।
३। निबन्ध लिखिये :—
"एक स्मरणीय प्रसंग"।

एक गौ

श्री जैनेन्द्रकुमार

[हिन्दी के आधुनिक कथाकारों में जैनेन्द्रकुमारजी का विशिष्ट स्थान है। आपके साहित्यिक जीवन का प्रारंभ एक अद्भुत शैलीवाले कहानीकार एवम् गहरी मनोभावनाओं को व्यक्त करनेवाले कुशल उपन्यासकार के रूप में हुआ। आपकी कहानियों और उपन्यासों में प्रायः शहर के मध्यम वर्ग के पात्रों और उनकी समस्याओं का यथार्थ निरूपण रहता है। इधर कुछ वर्षों से जैनेन्द्रजी गंभीर चिंतक तथा दार्शनिक बन गए हैं। चिंतन, विवेचन तथा दर्शन से सम्बन्धित आपके कई लेख-संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

आपके उपन्यासों और कहानियों की भाषा सरल और स्वाभाविक होती है। बोझिले शब्द-जालों की रचना वे कभी नहीं करते। प्रवाह, सौष्ठव और कवित्व से जैनेन्द्रजी की रचनाएँ चमत्कृत रहती हैं। आपके दार्शनिक निबन्ध अवश्य दुरूह होते हैं।

प्रमुख रचनाएँ :—

कथा-साहित्य :—परख, सुनीता, कल्याणी, त्यागपत्र, सुखदा, विवर्त, पाजेब, वातायन आदि।

निबन्ध :—प्रस्तुत प्रश्न, साहित्य का श्रेय और प्रेय आदि।]

हिसार और उसके आस-पास के हिस्से को हरियाना कहते हैं। यहाँ के लोग खूब तगड़े होते हैं, गाय-बैल और भी तन्दुरुस्त और कद्दावर होते हैं। यहाँ की नस्ल मशहूर है।

उसी हरियाने के एक गाँव में एक जमींदार रहता था। दो पुश्त पहले उसके घराने की अच्छी हालत थी। घी-दूध था, बाल-बच्चे थे, मान-प्रतिष्ठा थी। पर धीरे-धीरे अवस्था बिगड़ती गई। आज हीरासिंह को यह समझ नहीं आता है कि अपनी बीबी, दो बच्चे, खुद और अपनी सुन्दरिया गाय की परवरिश कैसे करे।

राज की अमलदारी बदल गई है, और लोगों की निगाहें भी फिर गई हैं। शहर बड़े से और बड़े हो गए हैं और वहाँ ऐसी ऊँची-ऊँची हवेलियाँ खड़ी होती जाती हैं कि उनकी ओर देखा भी नहीं जाता है। कल-कारखाने और पुतलीघर खड़े हो गए हैं। बाईसिकलें और मोटरें आ गई हैं। इनसे जिन्दगी तेज पड़ गई है और बाजार में मँहगाई आ गई है। इधर गाँव उजाड़ हो गए हैं और खुशहाली की जगह बेचारगी फैल रही है। हरियाने के बैल खूबसूरत तो अब भी मालूम होते हैं और उन्हें देखकर खुशी भी होती है; लेकिन अब उनकी उतनी माँग नहीं है। चुनांचे हीरासिंह भी अपने बाप-दादों के समान जरूरी आदमी अब नहीं रह गया है। हीरासिंह को बहुत-सी बातें बहुत कम समझ में आती हैं। वह आँख फाड़कर देखना चाहता है कि यह क्या बात है कि उसके घराने का महत्व इतना कम रह गया है। अन्त में उसने सोचा कि यह भाग्य है, नहीं तो और क्या?

उसकी सुन्दरिया गाय डील-डौल में इतनी बड़ी और इतनी तन्दुरुस्त थी कि लोगों को ईर्ष्या होती थी। उसी सुन्दरिया को अब हीरासिंह ठीक-ठीक खाना नहीं जुटा पाता था। इस गाय पर उसे गर्व था। बहुत ही मुहब्बत से उसे उसने पाला था। नन्ही बछिया थी, तब से वह हीरासिंह के यहाँ थी। हीरासिंह को अपनी गरीबी का अपने लिए इतना दुःख नहीं था, जितना उस गाय के लिए। जब उसके भी खाने-पीने में तोड़ आने लगी तो हीरासिंह के मन को बड़ी बिथा हुई। क्या वह उसको बेच दे? इसी गाँव के पटवारी ने दो सौ रुपए उस गाय के लगा दिए थे। दो सौ रुपए थोड़े नहीं होते। लेकिन अव्वल तो सुन्दरिया को बेचे कैसे? इसमें उसकी आत्मा दुखती थी। फिर इसी गाँव में रहकर सुन्दरिया दूसरे के यहाँ बँधी रहे और हीरासिंह अपने बाप-दादों के घर में बैठा टुकुर-टुकुर देखा करे, यह हीरासिंह से कैसे सहा जायेगा!

उसका बड़ा लड़का जवाहरसिंह बड़ा तगड़ा जवान था। उन्नीस वर्ष की उम्र थी, मसें भींगी थीं, पर इस उमर में वह अपने से ड्योढ़े को कुछ नहीं समझता था। सुन्दरिया गाय को वह मौसी कहा करता

था। उसे मानता भी उतना था। हीरासिंह के मन में दुर्दिन देखकर कभी गाय को बेचने की बात उठती थी तो जवाहरसिंह के डर से रह जाता था। ऐसा हुआ तो जवाहर डंडा उठाकर, रार मोल लेकर, उसको फिर वहाँ से खोलकर नहीं ले जाएगा, इसका भरोसा हीरासिंह को नहीं था। जवाहरसिंह उजड्ड ही तो है। सुन्दरिया के मामले में भला वह किसी की सुनने वाला है? ऐसे नाहक रार के बीज बढ़ जायेंगे और क्या?

पर दुर्भाग्य भी सिर पर से टलता न था। पैसे-पैसे की तंगी होने लगी थी। और तो सब भुगत लिया जाय पर अपने आश्रित जनों की भूख कैसे भुगती जाय?

एक दिन जवाहरसिंह को बुलाकर कहा—"मैं दिल्ली जाता हूँ। वहाँ बड़ी-बड़ी कोठियाँ हैं, बड़े-बड़े लोग हैं। हमारे गाँव के कितने ही आदमी वहाँ हैं। सो कोई नौकरी मिल ही जायगी। नहीं तो तुम्हीं तो सोचो, ऐसे कैसे काम चलेगा। इतने दिन तुम यहाँ देख-भाल रखना। वहाँ ठीक होने पर तुम सबको भी बुला लूँगा।"

× × × × ×

दिल्ली जाकर एक सेठ के यहाँ चौकीदार की नौकरी उसे मिल गई। हवेली के बाहर ड्योढ़ी में एक कोठरी रहने को भी मिल गई।

एक रोज सेठ ने हीरासिंह से कहा—"तुम तो हरियाने की तरफ के रहनेवाले हो ना? वहाँ की गायें बड़ी अच्छी होती हैं। हमें दूध की तकलीफ है। उधर की एक अच्छी गाय का बन्दोबस्त हमारे लिए करके दो।"

हीरासिंह ने पूछा—"कितने दूध की और कितने कीमत की चाहिए?"

सेठ ने कहा—कीमत जो मुनासिब हो देंगे; पर दूध थन के नीचे खूब होना चाहिए; गाय खूब सुन्दर तगड़ी होनी चाहिए।

हीरासिंह सुन्दरिया की बात सोचने लगा। उसने कहा—"एक है तो मेरी निगाह में, पर उसका मालिक बेचे तब है।"

सेठ ने कहा—"कैसी गाय है?"

हीरासिंह ने कहा—"गौ तो ऐसी है कि माँ के समान है और दूध देने में कामधेनु। पन्द्रह सेर दूध उसके तले उतरता है।"

सेठ ने पूछा—"तो उसका मालिक किसी शर्त पर नहीं बेच सकता ?"

हीरासिंह—"उसके दो सौ रुपए लग गए हैं।"

सेठ—"दो सौ ! चलो, पाँच हम और ज़्यादा देंगे।"

पाँच रुपए और ज़्यादा की बात सुनकर हीरा को दुःख हुआ। वह कुछ शर्म से और कुछ ताने में मुस्कराया भी।

सेठ ने कहा—"ऐसी भी क्या बात है ! दो-चार रुपए और बढ़ती दे देंगे। बस ?"

हीरासिंह ने कहा—"अच्छी बात है। मैं कहूँगा।"

हीरासिंह को इस घड़ी दुःख बहुत हो रहा था। एक तो इसलिए कि वह जानता था कि गाय बेचने के लिए वह राजी होता जा रहा है। दूसरे दुःख इसलिए भी हुआ कि उसने सेठ से सच्ची बात नहीं कही।

सेठ ने कहा—"देखो, गाय अच्छी है और उसके तले पन्द्रह सेर दूध पक्का है, तो पाँच-दस रुपए के पीछे बात कच्ची मत करना।"

हीरासिंह ने तब लज्जा से कहा—"जी, सच्ची बात यह है कि गाय वह अपनी ही है।"

सेठजी ने खुश होकर कहा—"तब तो फिर ठीक बात है। तुम तो अपने आदमी ठहरे। तुम्हारे लिए जैसे दो सौ वैसे ही पाँच। गाय कब ले आओगे ? मेरी राय में आज ही चले जाओ।"

हीरासिंह शरम के मारे कुछ बोल नहीं सका। उसने सोचा था कि गौ आखिर बेचनी तो होगी ही। अच्छा है कि वह गाँव से दूर कहीं इसी जगह रहे। रुपए पाँच कम, पाँच ज़्यादा—यह कोई ऐसी बात नहीं। पर गाँव के पटवारी के यहाँ तो सुन्दरिया उससे दी न जायगी। उसने सेठ के जवाब में कहा—"जो हुक्म। मैं आज ही चला जाता हूँ लेकिन एक बात है—मेरा लड़का जवाहर राजी हो जाय तब। वह लड़का बड़ा अक्खड़ है और गाय को प्यार भी बहुत करता है।"

सेठ ने समझा, यह कुछ और पैसे पाने का बहाना है। बोला "अच्छा, दो सौ पाँच ले लेना। चलो दो सौ सात सही। पर गाय लाओ तो। दूध पन्द्रह सेर पक्के की शर्त है।"

हीरासिंह लाज से गड़ा जाने लगा। वह कैसे बताए कि रुपए की बात बिलकुल नहीं है। तिस पर ये सेठ तो उसके अन्नदाता हैं। फिर ये ऐसी बातें क्यों करते हैं? उसे जवाहर की तरफ से सचमुच शंका थी। लेकिन इन गरीबी के दिनों में गाय दिन-पर-दिन एक समस्या होती जाती थी। उसको रखना भारी पड़ रहा था। पर अपने तन को क्या काटा जाता है? काटते कितनी वेदना होती है? यही हीरासिंह का हाल था। सुन्दरिया क्या केवल एक गौ थी! वह तो गौ 'माता' थी—उनके परिवार का अंग थी। उसी को रुपए के मोल बेचना आसान काम न था। पर हीरासिंह को यह ढाढ़स था कि सेठ के यहाँ रहकर गौ उसके आँखों के आगे तो रहेगी। सेवा-टहल भी यहाँ वह गौ की कर लिया करेगा। उसकी टहल करके यहाँ उसके चित्त को कुछ तो सुख रहेगा। तब उसने सेठ से कहा—"रुपए की बात बिलकुल नहीं है सेठ जी। वह लड़का जवाहर ऐसा ही है। पूरा बेबस जीव है। खैर, आप कहें, तो आज मैं जाता हूँ। उसे समझा-बुझा सका, तो गौ को लेता ही आऊँगा। उसका नाम हमने सुन्दरिया रखा है।"

"हाँ, लेते आना। पर पन्द्रह सेर की बात है ना? इतमीनान हो जाय, तब सौदा पक्का रहेगा। कुछ रुपए चाहिए तो ले जाओ।"

हीरासिंह बहुत ही लज्जित हुआ। उसकी गौ के बारे में बे-एतबारी उसे अच्छी नहीं लगती थी। उसने कहा—"जी, रुपए कहाँ जाते हैं फिर मिल जायेंगे। पर यह कहे देता हूँ कि गाय वह एक ही है। मुकाबले की दूसरी मिल जाय, तो मुझे जो चाहो कहना।"

सेठजी ने स्नेह-भाव से सौ रुपए मँगाकर उसी वक्त हीरासिंह को थमा दिए और कहा—"देखो हीरासिंह, आज ही चले जाओ, और गाय कब तक आ जायगी? परसों तक?........"

हीरासिंह ने कहा—"यहाँ से पचास कोस गाँव है। तीन रोज़ तो आने-जाने में लग जायेंगे।"

सेठजी ने कहा—"पचास कोस? तीस कोस की मंजिल एक दिन में की जाती है। तुम मुझको क्या समझते हो?"

तीस कोस की मंजिल सेठ पैदल एक दिन छोड़ तीन दिन में भी कर लें तो हीरासिंह जाने। लेकिन वह बोला नहीं।

सेठ ने कहा—"अच्छा, तो चौथे दिन गाय यहाँ आ जाय।"

हीरासिंह ने कहा—"जी, कम-से-कम पूरे पाँच रोज तो लगेंगे ही।"

सेठजी ने कहा—"पाँच?"

हीरासिंह ने विनीत भाव से कहा—"दूर जगह है सेठजी!"

सेठजी ने कहा—"अच्छी बात है। पर देर मत लगाना, यहाँ काम का हर्ज होगा, जानते हो? खैर, इन दिनों तुम्हारी तनख्वाह न काटने को कह देंगे।"

हीरासिंह ने जवाब में कुछ नहीं कहा, और वह उसी रोज चला भी गया।

ज्यों-त्यों जवाहरसिंह को समझा-बुझाकर गाय वह ले आया। देखकर सेठ बड़े खुश हुए। सचमुच वैसी सुन्दर स्वस्थ गौ उन्होंने अब तक न देखी थी। हीरासिंह ने खुद उसे सानी-पानी किया, सहलाया और अपने ही हाथों उसे दूहा। दूध पन्द्रह सेर से कुछ ऊपर ही बैठा। सेठजी ने खुशी से दो सौ के ऊपर सात रुपए और हीरासिंह को दिये और अपने घोसी को बुलाकर गौ उसके सुपुर्द की।

रुपए तो लिये, लेकिन हीरासिंह का जी भरा आ रहा था। जब सेठजी का घोसी गाय को ले जाने लगा, तब गाय उसके साथ चलना ही नहीं चाहती थी। घोसी ने झल्लाकर उसे मारने की रस्सी भी उठाई, लेकिन सेठजी ने मना कर दिया। वह गौ इतनी भोली मालूम होती थी कि सचमुच घोसी का हाथ भी उसे मारने को हिम्मत से ही उठ सका था। अब जब वह हाथ इस भाँति उठ करके भी रुका रह गया तब घोसी को

भी खुशी हुई क्योंकि गौ की आँखों के कोये में गाढ़े-गाढ़े आँसू भर रहे थे। वे आँसू धीमे-धीमे बहने भी लगे।

हीरासिंह ने कहा—"सेठजी, इस गौ की नौकरी पर मुझे कर दीजिए, चाहे तनख्वाह में दो रुपए कम कर दीजिएगा।"

सेठजी ने कहा—"हीरासिंह, तुम्हारे-जैसा ईमानदार चौकीदार हमें दूसरा कौन मिलेगा? तनख्वाह तो हम तुम्हारी एक रुपया और भी बढ़ा सकते हैं पर तुमको ड्योढ़ी पर ही रहना होगा।"

उस समय हीरासिंह को बहुत दुःख हुआ। वह दुःख इस बात से और दुःसह हो गया कि सेठ का विश्वास उस पर है। वह गौ को सम्बोधन करके बोला—"जाओ, बहिनी! जाओ।"

गौ ने सुनकर मुँह जरा ऊपर उठाकर हीरासिंह की तरफ देखा, मानो पूछती हो, "जाऊँ? तुम कहते हो जाऊँ?"

हीरासिंह उसके पास आ गया। उसने गले पर थपथपाया, माथे पर हाथ फेरा, गलबन्ध सहलाया और काँपती वाणी में कहा—"जाओ बहिनी सुन्दरिया, जाओ। मैं कहीं दूर थोड़े ही हूँ। मैं तो यहाँ ही हूँ।"

हीरासिंह के आशीर्वाद में भीगती हुई गौ चुप खड़ी थी। जाने की बात पर फिर ज़रा मुँह ऊपर उठाया और आँखों से उसे देखती हुई मानो पूछने लगी—"जाऊँ? तुम कहते हो जाऊँ?"

हीरासिंह ने थपथपाते हुए पुचकारकर कहा—"जाओ बहिनी! सोच न करो।" फिर घोसी को आश्वासन देकर कहा—"लो, अब ले जाओ, अब चली जायेगी।" यह कहकर हीरासिंह ने गाय के गले की रस्सी अपने हाथों उस घोसी को थमा दी।

गाय फिर चुपचाप डग-डग घोसी के पीछे चली गई। हीरासिंह एकटक देखता रहा। उसने आँसू नहीं आने दिए। हाथ के नोटों को उसने जोर से पकड़ रखा। नोटों पर वह मुट्ठी इतनी जोर से कस गई कि अगर उन नोटों में जान होती तो, बेचारे रो उठते। वे कुचले-कुचलाए मुट्ठी में बँधे रह गए।

उसके बाद सेठजी वहाँ से चले गए और हीरासिंह भी चलकर अपनी कोठरी में आ गया। कुछ देर वह उस हवेली की ड्योढ़ी के बाहर शून्य भाव से देखता रहा। भीतर हवेली थी, बाहर बिछा शहर था, जिसके पार खुला मैदान और खुली हवा थी और उनके बीच में आने-जाने का रास्ता छोड़े हुए फिर भी उस रास्ते को रोके हुए, यह ड्योढ़ी थी। कुछ देर तो वह इसे देखता रहा, फिर मुँह झुकाकर हुक्का गुड़गुड़ाने लगा। अनबूझ भाव से वह इस व्याप्त विस्तृत शून्य में देखता रह गया।

लेकिन अगले दिन गड़बड़ उपस्थित हुई। सेठजी ने हीरासिंह को बुलाकर कहा—"यह तुम मुझे धोखा तो नहीं देना चाहते? गाय के नीचे से सबेरे पाँच सेर भी तो दूध नहीं उतरा। शाम को भी यही हाल रहा है। मेरी आँखों में तुम धूल झोंकना चाहते हो।"

हीरासिंह ने बड़ी कठिनाई से कहा—"मैंने तो पन्द्रह सेर से ऊपर दुहकर आपके सामने दे दिया था।"

"दे दिया होगा। लेकिन अब क्या बात हो गई? जो न तुमने उसे कोई दवा खिला दी है?"

हीरासिंह का जी दुःख और ग्लानि से कठिन हो आया। उसने कहा—"दवा मैंने नहीं खिलाई और कोई दवा दूध ज्यादा नहीं निकलवा सकती। इसके आगे और मैं कुछ नहीं जानता।"

सेठजी ने कहा—"तो जाकर अपनी गाय को देखो। अगर दूध नहीं देती, तो क्या मुझे मुफ़्त का जुर्माना भुगतना है?"

हीरासिंह गाय के पास गया। वह उसको गर्दन से लगाकर खड़ा हो गया। उसने गाय को चूमा, फिर कहा—"सुन्दरिया, तू मेरी रुसवाई क्यों कराती है? तेरे बारे में मैं किसी से धोखा करूँगा?"

गाय ने उसी भाँति मुँह ऊपर उठाया, मानो पूछा—"मुझे कहते हो? बोलो, मुझे क्या कहते हो?"

हीरासिंह ने घोसी से कहा—"बंटा लाओ तो!"

घोसी ने कहा—"मैं आध घण्टा पहले तो दुह चुका हूँ।"

हीरासिंह ने कहा—"तुम बंटा लाओ।"

उसके बाद साढ़ तेरह सेर दूध उसके तले से पक्का तौलकर हीरासिंह नें घोसी को दे दिया। कहा—"यह दूध सेठजी को दे देना। फिर गौ के गले पर अपना सिर डालकर हीरासिंह बोला—"सुन्दरी! देख, मेरी ओछी मत कर। तू यहाँ है, मैं दूर हूँ, तो क्या उसमें मुझे सुख है?"

गौ मुँह झुकाये वैसे ही खड़ी रही।

"देखना सुन्दरिया! मेरी रुसवाई न करना।" गद्‌गद् कण्ठ से यह कहकर उसे थपथपाते हुए हीरासिंह चला गया।

पर गौ अपनी बिथा किससे कहे? कह नहीं पाती, इसी से सही नहीं जाती। क्या वह हीरासिंह की रुसवाई चाहती है? उसे सह सकती है? लेकिन दूध नीचे आता ही नहीं, तब क्या करे? वह तो चढ़-चढ़ जाता है, सूख-सूख जाता है, गौ बेचारी करे तो क्या?

सो फिर शिकायत हो चली। आए दिन बखेड़े खड़े होने लगे। शाम इतना दूध दिया, सबेरे उससे भी कम दिया। कल तो चढ़ा ही गई थी। इतने अनुहार-मनुहार किये, बस में ही न आई। गाय है कि बवाल है। जी को एक सामत ही पाल ली।

सेठ ने कहा—"क्यों हीरासिंह, यह क्या है?"

हीरासिंह ने कहा—"मैं क्या जानता हूँ—"

सेठ ने कहा—"क्या यह सरासर धोखा नहीं है?"

हीरासिंह चुप रह गया।

सेठ ने कहा—"ऐसा ही है तो ले जाओ अपनी गाय और रुपए मेरे वापिस करो।"

लेकिन रुपए हीरासिंह गाँव भेज चुका था, और उसमें से काफी रकम वहाँ के मकान की मरम्मत में काम आ चुकी थी। हीरासिंह फिर चुप रह गया।

सेठजी ने कहा—"क्या कहते हो?"

हीरासिंह क्या कहे?

सेठजी ने कहा—"अच्छा, तनख्वाह में से रकम कटती जायगी और जब पूरी हो जायगी, तो गाय अपनी ले जाना।"

हीरासिंह ने सुन लिया और सुनकर वह अपनी ड्योढ़ी में आ गया। उस ड्योढ़ी के इधर हवेली है, उधर शहर बिछा है, जिसके पार खुला मैदान है और खुली हवा है। दोनों ओर टुक देर शून्य भाव से देखकर वह हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

अगले दिन सबेरे से ही एक प्रश्न भिन्न-भिन्न प्रकार की आलोचना-विवेचना का विषय बना हुआ था। बात यह थी कि सबेरे बहुत-सा दूध ड्योढ़ी पर बिखरा हुआ पाया गया। उससे पहली शाम को सुन्दरी गाय ने दूध देने से बिलकुल इन्कार कर दिया था। उसे बहलाया गया, फुसलाया गया, धमकाया और पीटा भी गया था। फिर भी वह राह पर न आई थी। अब यह इतना सारा दूध यहाँ कैसे बिखरा है? यह यहाँ आया तो कहाँ से आया?

लोगों का अनुमान था कि कोई दूध लेकर ड्योढ़ी में आया था, या ड्योढ़ी में जा रहा था, तभी उसके हाथ से यह बिखर गया है। अब वह दूध लेकर आने वाला आदमी कौन हो सकता है? लोगों का गुमान यह था कि हीरासिंह वह व्यक्ति हो सकता है। हीरासिंह चुप-चाप था। वह लज्जित और सचमुच अभियुक्त मालूम होता था। हीरासिंह के दोषी होने का अनुमान या कारण यह भी था कि हवेली के और नौकर उससे प्रसन्न न थे। वह नौकर के ढंग का नौकर ही न था। नौकरी से आगे बढ़कर स्वामि-भक्ति का भी उसे चाव था जो कि नौकर के लिए असह्य दुर्गुण नहीं तो और क्या है?

सेठजी ने पूछा—"हीरासिंह यह क्या बात है?"

हीरासिंह चुप रह गया।

सेठजी ने कहा—"इसका पता लगाओ हीरासिंह, नहीं तो अच्छा न होगा।"

हीरासिंह सिर झुकाकर रह गया। पर कुछ ही देर में उसने सहसा

चमत्कृत होकर पूछा—"रात गाय खुली तो नहीं रह गई थी? ज़रूर यही बात है। आप इसकी खबर तो लीजिए।"

घोसी को बुलाकर पूछा गया तो उसने कहा कि ऐसी चूक कभी उससे जनम-जीते जी हो सकती ही नहीं है, और कल रात तो हुज़ूर, पक्के दावे के साथ गाय ठीक तरह से बँधी रही है।

हीरासिंह ने कहा—"ऐसा हो नहीं सकता—"

सेठजी ने कहा—"तो फिर तुम्हारी समझ में क्या हो सकता है?"

हीरासिंह ने स्थिर होकर कहा—"गाय रात को आकर ड्योढ़ी में खड़ी रही है और अपना दूध गिरा गई है।"

यह कहकर हीरासिंह इतना लीन हो रहा था कि मानो गौ के इस दुष्कृत्य पर अतिशय कृतज्ञता में डूब गया हो।

सेठजी ऐसी अनहोनी बात पर कुछ देर भी नहीं ठहरे। उन्होंने कहा—"ऐसी मनसुई बातें औरों से कहना। जाओ, खबर लगाओ कि वह कौन आदमी है, जिसकी यह करतूत है।"

हीरासिंह ड्योढ़ी में चला गया। ड्योढ़ी इस हवेली और उस दुनिया के दरमियान है और उसके लिए घर बनी हुई है। और क्षणेक फिर शून्य में देखते रहकर सिर झुकाकर वह हुक्का गुड़गुड़ाने लगा।

रात को जब वह सो रहा था, उसे मालूम हुआ कि दरवाजे पर कुछ रगड़ की आवाज़ आई। उठकर दरवाजा खोला कि देखता क्या है, सुन्दरिया खड़ी है। इस गौ के भीतर इन दिनों बहुत बिथा घुटकर रह गई थी। वह तकलीफ़ बाहर आना ही चाहती थी। हीरासिंह ने देखा—मुँह ऊपर उठाकर उसको सुन्दरिया उसे अभियुक्त आँखों से देख रही है। मानो अत्यन्त लज्जित बनी क्षमा-याचना कर रही हो। कहती हो—"मैं अपराधिनी हूँ। लेकिन मुझे क्षमा कर देना। मैं बड़ी दुखिया हूँ।"

हीरासिंह ने कहा—" बहिनी, यह तुमने क्या किया?"

कैसा आश्चर्य! देखता क्या है कि गौ मानव-वाणी में बोल रही है—"मैं क्या करूँ?"

हीरासिंह ने कहा—"बहन, तुम बेवफाई क्यों करती हो ? सेठ को अपना दूध क्यों नहीं देती हो ? बहिनी ! वह अब तुम्हारे मालिक हैं।" कहते कहते हीरासिंह की वाणी काँप गई, मानो कहीं भीतर इस मालिक होने की बात के सच होने में उसको खुद शंका हो।

सुन्दरी ने पूछा—"मालिक ! मालिक क्या होता है ?"

हीरासिंह ने कहा—"तुम्हारी कीमत के रुपए सेठ ने मुझे दिये थे। ऐसे वह तुम्हारे मालिक हुए।"

गौ ने कहा—"ऐसे तुम्हारे यहाँ मालिक हुआ करते हैं। म इस बात को जानती नहीं हूँ। लेकिन तुम मुझे प्रेम करते हो, सो तुम मेरे क्या हो ?"

हीरासिंह ने धीर भाव से कहा—"मैं तुम्हारा कुछ भी नहीं हूँ।"

गौ बोली—"तुम मेरे कुछ भी नहीं हो, यह तुम कहते हो ? तुम झूठ भी नहीं कहते होगे। तुम जो जानते हो, वह मैं नहीं जानती। लेकिन मालिक की बात के साथ दूध देने की बात मुझसे तुम कैसी करते हो ? मालिक हैं, तो मैं उनके घर में उनके खूँटे से बँधी रहती तो हूँ। रात में चोरी करके आई हूँ। तो भी उनकी ड्योढ़ी से बाहर नहीं हूँ। पर दूध तो मेरे उतरता ही नहीं, उसका क्या करूँ ? मेरे भीतर का दूध मेरे पूरी तरह बस में नहीं है। कल रात आप-ही-आप इतना सारा दूध यहाँ बिखर गया। मैं यह सोचकर नहीं आई थी। हाँ, मुझे लगता है कि बिखरेगा तो वह यों ही बिखर जायगा। तुम ड्योढ़ी में रहोगे तो शायद ड्योढ़ी में बिखर जायगा। ड्योढ़ी से पार चले जाओगे तो शायद भीतर-ही-भीतर सूख जायगा। मैं जानती हूँ इससे तुम्हें दुःख पहुँचा है। मुझे भी दुःख पहुँचता है। शायद यह ठीक बात नहीं हो। मेरा यहाँ तक आ जाना भी ठीक बात नहीं हो। लेकिन जितना मेरा बस है, मैं कह चुकी हूँ। तुमने रुपए लिये हैं, और सेठ मेरे मालिक हैं, तो उनके घर में उनके खूँटे से मैं रह लूँगी। रह तो मैं रही ही हूँ, रुपए के लेन-देन से अधिकार का और प्रेम का लेन-देन जिस भाव से तुम्हारी दुनिया में

होता है, उसे मैं नहीं जानती। फिर भी तुम्हारी दुनिया में तुम्हारे नियम मानती जाऊँगी। लेकिन तुम अपने हृदय का इतना स्नेह देते हो, तब तुम मेरे कुछ भी नहीं हो और मैं अपने हृदय का दूध बिलकुल तुम्हारे प्रति नहीं बहा सकती—यह बात मैं किस बिधि मान लूँ? मुझसे नहीं मानी जाती, सच, नहीं मानी जाती। फिर भी जो तुम कहोगे, वह मैं सब-कुछ मानूँगी।"

हीरासिंह ने विषाद-भरे स्वर में पूछा, "तो मैं तुम्हारा क्या हूँ?"

गौ ने कहा—"तो क्या मेरे कहने की बात है? फिर शब्द मैं विशेष नहीं जानती। दुःख है, वही मेरे पास है। उससे जो शब्द बन सकते हैं उन्हीं तक मेरी पहुँच है। आगे शब्दों में मेरी गति नहीं है, जो भाव मन में हैं, उनके लिए संज्ञा मेरे जुटाए जुटती नहीं। पशु जो मैं हूँ। संज्ञा तुम्हारे समाज की स्वीकृति के लिए जरूरी होती होगी, लेकिन, मैं तुम्हारे समाज की नहीं हूँ। मैं निरी गौ हूँ। तब मैं कह सकती हूँ कि तुम मेरे कोई हो, कोई न हो, दूध मेरा किसी और के प्रति नहीं बहेगा। इसमें मैं या तुम या कोई शायद कुछ भी नहीं कर सकेंगे। इस बात में मुझपर मेरा भी बस कैसे चलेगा? तुम जानते तो हो, मैं कितनी परबस हूँ।"

हीरासिंह गौ के कण्ठ से लिपटकर सुबकने लगा। बोला—"सुन्दरिया, तो मैं क्या करूँ?"

गौ ने कंपित वाणी में कहा—"मैं क्या कहूँ? क्या कहूँ?"

हीरासिंह ने कहा—"जो कहो, मैं वही करूँगा सुन्दरी। रुपए का लेन-देन है, लेकिन, मेरी गौ, मैंने जान लिया कि उससे आगे भी कुछ है। शायद उससे आगे ही सब-कुछ है। जो कहो वही करूँगा, मेरी सुन्दरिया!"

गौ ने कहा—"जो तुमसे सुन रही हूँ, उससे आगे मेरी कुछ चाहना नहीं है। इतने में ही मेरी सारी कामनाएँ भर गई हैं। आगे तो तुम्हारी इच्छा है और मेरा तन है। मेरा विश्वास करो मैं कुछ नहीं माँगती और मैं सब सह लूँगी।"

सुनकर हीरासिंह बहुत विह्वल हो आया। उसके आँसू रोके न रुके। वह गर्दन से लिपटकर तरह-तरह के प्रेम-सम्बोधन करने लगा। उसके बाद हीरासिंह ने बहुत-से आश्वासन के बचनों के साथ गौ को बिदा किया।

अगले दिन सबेरे उसने सेठजी से कहा, "आप मुझसे जितने महीने की चाहें कसकर चाकरी लीजिए, पर गौ आज ही यहाँ से हमारे गाँव चली जायगी। रुपए जब आपके चुकता हो जायँ मुझसे कह दीजिएगा। तब मैं भी छुट्टी ले जाऊँगा।"

सेठजी की पहले तो राजी होने की तबियत न हुई, फिर उन्होंने कहा— "हाँ, ले जाओ, ले जाओ। पूरा-पूरा ढाई सौ रुपए का तावान तुम्हें भरना पड़ेगा।"

हीरासिंह तावान भरने को खुशी से राजी हुआ और गौ को उसी रोज ले गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। सिद्ध कीजिये कि जैनेन्द्रकुमार मन के सूक्ष्म भावों के सफल विश्लेषक हैं।
२। इस कहानी की विशेषताएँ प्रदर्शित. कीजिये।
३। सुन्दरिया का शब्दचित्र प्रस्तुत कीजिये।

बुढ़ापा

पांडेय बेचन शर्मा "उग्र"

[उग्रजी सर्वतोमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। इन्होंने उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, निबन्ध, आदि विविध प्रकार का साहित्य-सर्जन किया है। ये पत्रकार भी हैं। अपनी रचनाओं में इन्होंने हमारे वर्तमान समाज का यथातथ्य चित्रण किया है जिसे कुछ लोग पसंद नहीं करते। समाज जैसा है, उसे वैसा ही पेश करने में 'उग्रजी' कभी हिचकिचाये नहीं। इनकी रचनाओं में उत्तेजना एवम् ओज की भी अधिक मात्रा रहती है। इनकी कवित्व-पूर्ण शैली मार्मिक अभिव्यंजना में सहायक होती है। उग्रजी की भाषा बड़ी जोरदार और जिन्दादिल होती है। उसमें वक्तृत्व की छटा के साथ साथ प्रचारवादी ढंग का आभास मिलता है। पाठकों के मन पर अभिप्सित प्रभाव डालने की उग्रजी में अद्भुत शक्ति है।

प्रमुख रचनाएँ :—

दोजख की आग, चन्द हसीनों के खुतूत, दिल्ली का दलाल, बुधुआ की बेटी, चॉकलेट, महात्मा ईसा, कला का पुरस्कार आदि।]

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूलकर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूटकर रो रही है। उस 'खोने' में दुख नहीं, सुख था; सुख ही नहीं, स्वर्ग भी था। इस 'पाने' में सुख नहीं है; दुख ही नहीं, नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्ग-दुर्लभ सरलता से कहता था—"मैया मैं तो चन्द्र खिलौना लैहौं।" जवानी देव-दुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—"दौर में सागर रहे, गर्दिश में पैमाना रहे।" और 'अंगं गलितं पलितं मुण्डम्' वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर कहता है—"अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल!"

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, 'हा-हा-हा-हा' है ? यह सब सफेद झूठ है, कोरी कल्पना है, धोखा है, प्रवंचना है। मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातोंवाले—एक, दो, दस, बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानों को, बतलायेंगे कि जीवन का अर्थ 'वाह' नहीं, 'आह' है; हँसी नहीं, रुदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है!

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्याकर क्या पाया ?—जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन! जवानी ने बीस वर्षों तक, कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया ?—वार्धक्य के लिफाफे में सर्वनाश, पतन और—और—अब वह बुढ़ापा घण्टों नाक दबाकर, ईश्वर-भजनकर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर, खनन का खजाना इकट्ठा कर, बेटों की 'बटालियन' और बेटियों की 'बैटरी' तैयार कर कौन-सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा ?—वही सर्वनाश, वही पतन! मुझसे पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोककर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है—'प....त....न' !

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिन-मणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी उषा से होली खेल-खेलकर गंगा की बेला को, तरंगों को, मंद मलयानिल को, नीलाम्बर को, दसों दिशाओं को और भगवती प्राची के अंचल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रंग में रंगकर वही नाच नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर.....मगर.....?

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिन-मणि कैसा अप्रसन्न, निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कम्पित करोंवाला व्यथित बुढ़ापा

भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं! उस समय सूर्य को उसकी दिन-भर की घोर तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन! उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की रक्त-चिता जलती है। माथे पर सायंकाल-रूपी काला चाण्डाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहन पश्चिमा 'आग' देती है। दिशायें व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओत-प्रोत रहता है।

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञान होता है कि जीवन का असली अर्थ, और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

(२)

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की, बातों के दायरे से आगे बढ़नेवालों की।

जीवन का अर्थ सर्वनाश या पतन है, यह कह देना सरल है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं; पर पतन या सर्वनाश को आँखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना, केवल दुरूह ही नहीं असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नज़र मुझपर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—"हट जाओ, हट जाओ! 'हनुमानगढ़ी' से भागकर यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पाई है? पूरा 'किष्किन्धावासी' मालूम पड़ता है।"

बस बात लग गई। बूढ़ा हो जाने से ही इन्सान बन्दर हो जाता है? इतना अपमान? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा? झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर मैंने उन लड़कों से कहा—"नालायको! आज कमर झुक गयी। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गए हैं। आज दुनिया की तस्वीरें भूले हुए स्वप्न की तरह झिलमिल दिखाई दे

रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही है; मगर हमेशा यही हालत नहीं थी।

"अभी छोकरे हो, लौंडे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो। तुम क्या जानो कि संसार परिवर्तनशील है। तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक अगर जीवित रहा तो जवान होता है और प्रत्येक जवान, अगर जल्द खत्म न हो गया, तो एक-न-एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है? लड़कपन और जवानी के हाथों बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उनपर करने लगे तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाए। बच्चे जन्म से ही मार डाले जाएँ, लड़के होश सँभालते ही अपना पेट पालने के लिये घर से बाहर निकाल दिए जायँ। संसार से दादा के माल पर फातिहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाए।

"अब भी सौ में से निन्यानबे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हजार में नौ सौ साढ़े-निन्यानबे शौकीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी, शीशा, 'ओटो,' 'लवेण्डर', 'सोप', पाउडर', पालिश और शराब की बोतलों के पैसे बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब भी संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देनेवाला, कमजोर हृदयवाला बुढ़ापा ही है, बेवकूफ लड़कपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं.........। फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों? बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों?"

मगर उन लड़कों के कान तक मेरी दुहाई की पहुँच न हो सकी। सबने एक स्वर से ताली बजा-बजाकर, मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

"भागो! भागो!! हनुमानजी खाँव-खाँव कर रहे हैं। ठहरोगे, तो किटकिटाकर टूट पड़ेंगे, नोंच खाने पर उतारू हो जायेंगे।"

लड़के 'हू-हू', 'हो-हो' करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आयी, जो मैंने आज से

युगों पूर्व लड़कपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न !

(३)

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हँसे या चाहे जो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो, तो सामने आये। मैं जुआ खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है— एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सफेद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन-भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हजार-हजार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पासे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राजी हूँ। कोई हकीम हो, सामने आए, उसे निहाल कर दूँगा। मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डॉक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँह-माँगा दूँगा !

हर साल वसन्त आता है। बूढ़े-से-बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारणकर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-सम्पन्न शीतल समीर मन्दगति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर 'कुहू-कुहू' करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब—नवयुवक—उन्माद की सरिता में सब कुछ भूलकर, विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धमा-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं, लिपटते हैं, लिपटाते हैं—दुनिया के पतन को, उत्थान को और सर्वनाश को मंगल का जामा पहनाते हैं। और मैं—टका-सा मुँह लिये, कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकुर-टुकुर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है !

हर साल मतवाली वर्षा-ऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का

घड़ा लुढ़काया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोट-पोट हो गाता है—'काले मेघा पानी दे!' जवानी पगली होकर गाने लगती है—"आई कारी बदरिया ना!' और मेरा बुढ़ापा? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख के भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते! तड़प-तड़पकर रह जाते हैं। उफ!

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है!

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवा बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हाँ-हाँ, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हूँ, मैं भुक्तभोगी हूँ, मुझपर बीत रही है।

कोई यदु हो, तो इस बूढ़े की सहायता करे। मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आँखों को चाहता हूँ, जिन्हें बात-बात में उलझने, लगने, चार होने और फँसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है, एक बार फिर किसी के प्रेम में फँसकर गाऊँ।

एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदय-दान देकर बैठे-बिठाए दुनिया की दृष्टि में व्यर्थ, परन्तु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर प्रार्थना करूँ।

(४)

मगर नहीं। वार्द्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके। यह मर्ज ला-इलाज है। यह सर-दर्द ऐसा है, कि सर जाये तो जाय, पर दर्द न जाय।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ। भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है, जिसका

उत्थान केवल एक बार होता है—और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोय'। यदि वैद्य है तो एक—'नारायणोहरिः'।

फिर अब देर काहे की, प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुण-रहित है, प्रकाश-हीन है। इसका शीघ्र ही नाश करो, पंचत्व में लय करो।

फिर से, नये सिरे से, निर्माण हो; फिर से, नये सिरे से, सृष्टि हो; फिर से, नये सिरे से, जन्म हो; फिर से, नये सिरे से, शैशव हो; फिर से, नये सिरे से, यौवन हो; फिर से, नये सिरे से, भोग हो, विलास हो, सुख हो, आमोद हो, कविता हो, प्रेम हो, पागलपन हो, मान में अपमान और अपमान में मान हो ! फिर से, नये सिरे से, यौवन की मतवाली अंगूरी सुरा ऐसी छने—ऐसी छने कि लोक भूल जाये, परलोक भूल जाये, भय भूल जाये, शोक भूल जाये, वह भूल जाये और तुम—ईश्वर—भूल जाओ ! तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर, अब देर काहे की प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो; जीवन की रस्सी काट डालो !

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। बुढ़ापे की कठिनाइयों का वर्णन कीजिये।
२। लेखक ने बचपन और जवानी के जिन सुखों का उल्लेख किया हैं उन्हें आप अपने शब्दों में लिखिये।
३। निबन्ध लिखिये :—
'मानव-जीवन'।

स्मृतिज्ञान कीर्ति

महापंडित राहुल सांकृत्यायन

[महापंडित राहुल सांकृत्यायन असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। आपने अपने गंभीर अध्ययन, मौलिक चिंतन तथा विस्तृत ज्ञान द्वारा भारत में और भारत के बाहर अन्य देशों में अनुपम कीर्ति प्राप्त की है। आप साहित्य, संस्कृति, इतिहास, भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति आदि अनेक विषयों के ज्ञाता हैं। बौद्ध दर्शन के आप उच्च कोटि के सर्वमान्य विद्वान हैं। आप वैज्ञानिक ढ़ंग के विचारक और सूक्ष्म दृष्टा हैं। राहुलजी की रचना-शक्ति अतुलनीय है। सौ से भी अधिक ग्रंथ आपके प्रकाशित हो चुके हैं।

आप जन्मजात पर्यटक हैं। विश्व के कई देशों का आप भ्रमण कर चुके हैं। "चरैवेति" आपका जीवन मंत्र बन गया है। मास्को में आप प्राध्यापक भी थे।

प्रमुख रचनाएँ :—

मेरी जीवन-यात्रा, घुमक्कड़ शास्त्र, सोवियत भूमि, मानव-समाज, वॉल्गा से गंगा, सिंह सेनापति, जीने के लिए, बौद्ध दर्शन आदि।]

दिन के दस बज चुके हैं। रात की वर्षा के बाद आज मेघरहित आकाश में सूर्य का प्रखर प्रकाश फैल रहा है। पत्थरों से शून्यप्रायः ता-नग् के पहाड़ों पर घास की हरी-सी मखमल बिछी हुई दूर से दिखाई दे रही है जिसमें अगणित चँवरियाँ (तिब्बत की एक जाति की गायें) और भेड़-बकरियाँ चर रही हैं। नीचे की ओर दूर एक विस्तृत उपत्यका में ब्रह्मपुत्र की रुपहली पतली-सी धार भूल-भुलैया खेलती हुई जा रही है। इससे अति दूर ऊपर की ओर हटकर, एक नाले में कितने ही चँवरी के बालों के काले-काले तम्बू लगे हुए हैं जिनकी फटी छतों से काला धुआँ आकाश में उड़कर दूर तक फैल रहा है। इन तम्बुओं के पास बँधे हुए कुत्तों के समय-समय पर भूँकने के सिवा और कोई मानव-चिन्ह दिखाई नहीं पड़ता।

तम्बुओं के पीछे की पहाड़ी पर बहुत दूर दक्षिण की ओर एक तरुण बैठा हुआ है। अपने लम्बे शरीर, असाधारण गौर वर्ण, भूरे केश, और बड़ी बड़ी आँखों के कारण, मैले पट्टी के चोगे और चमड़े के जूते के रहते भी वह भोट-देशीय नहीं जान पड़ता। युवक के पास बकरी के बालों का एक मोटा झोला, डंडा और गोफन पड़ा हुआ है, दूसरी ओर रीछ जैसे बालों और पीली आँखोंवाला एक भीमकाय काला कुत्ता बैठा हुआ है जो रह-रहकर सहलाने की इच्छा से गर्दन को युवक की गोद में डाल देता है। किन्तु, चिन्तामग्न युवक आज उधर ध्यान ही नहीं देता। उसके सामने कुछ कदमों पर सफ़ेद ऊनी छिपा (कनटोप जैसी टोपी) पहने, झोली और गोफन लिए एक दस वर्ष की लड़की खड़ी है।

लड़की ने कुछ और आगे बढ़कर कहा, "अबू-ने-ले,* तुम पहले गीत गाने के लिए कितना आग्रह किया करते थे; एक गीत गाओ न। एक छोटा-सा गीत सुनाओ। आज मेरे तीन गीत गाने पर भी तुम ऐसे चुपचाप क्यों हो?"

युवक अब भी चिन्तामग्न रहा।

लड़की उदास होकर बोली, "तुम पिता की उन दो-चार गालियों से तो दुःखी नहीं हो गये? काम में गफलत होने पर मालिक ऐसा ही किया करते हैं, मारते भी हैं, किन्तु नौकर उसका ख्याल थोड़ा ही करते हैं?"

युवक ने अपनी बड़ी बड़ी आँखों को ऊपर उठाया और उसे डोल्-मा (उसके मालिक की लड़की) के गीत का स्वागत न करने का पछतावा होने लगा। उसे ता-नग् में नौकरी करते हुए एक साल हो गया था। इस सारे समय में डोल्-मा से बढ़कर सहृदय मित्र दूसरा उसे नहीं मिला था। ता-नग् में आते समय उसका भोट-भाषा का ज्ञान नहीं-सा था, उसके सिखाने में डोल्-मा गुरु बनी। एक बार बीमार पड़ जाने पर घर-भर में डोल्-मा ही थी जो हर समय पास मौजूद रहकर उसकी सेवा-सुश्रूषा में लगी रहती थी। एक अपढ़ ग्रामीण कन्या होते हुए भी डोल्-मा के बर्ताव में एक प्रकार की

---

* चरवाही के दिनों में स्मृतिज्ञान का यही नाम था।

मधुरता थी। अपने अनेक देशवासियों की भाँति, यद्यपि डोल्-मा ने अभी तक दीर्घ काल से जल स्पर्श कर अपने शरीर को अपवित्र नहीं होने दिया है, तो भी चेहरा या हाथ——जहाँ से मैल की एक पपड़ी निकल गई है वहाँ का सुन्दर गुलाबी रंग चमकने लगा है। गोल होने पर डोल्-मा का चेहरा उतना चिपटा नहीं है, उसकी आँखें भी अपेक्षाकृत अधिक खुली हुई हैं। नाक भी एकदम कपोल-शायिनी नहीं है। इन बातों के कारण डोल्-मा का मुख और शरीर सुन्दर मालूम होते हैं।

युवक ने बड़े प्रयत्न से मुख पर हँसी की रेखा लाकर कहा, "नहीं डोल्-मा, कोई बात नहीं है। आज पहाड़ों की हरी उपत्यका को देखकर मुझे अपनी जन्म-भूमि की याद आ गई है।"

"अबू-ने-ले, क्या तुम्हारे यहाँ हमारी चई-सो जैसी नदी भी है ?"

"इतनी ही दूर पर और इससे बड़ी। लेकिन पहाड़ न होने से हम उसे देख नहीं सकते।"

"पहाड़ न होने पर तुम्हारी चँवरियाँ और भेड़-बकरियाँ कहाँ चरती होंगी ?"

"चँवरियाँ हमारे यहाँ नहीं हैं।"

"ओह, ! तब तो तुम्हारे यहाँ के लोग बहुत ही दुःखी होंगे। उनको तम्बू और रस्सी बनाने के लिए बाल न मिलते होंगे। उसका दूध, मक्खन और सुखाया हुआ पनीर नसीब न होता होगा। वे बेचारे अपनी पीठों पर ही बोझ ढोते होंगे।"

स्मृति ने डोल्-मा की बातों का खण्डन नहीं किया। वे अपने को संस्कृति के उसी तल पर रखना चाहते थे। वे बोले, "हाँ, होगा, डोल्-मा, हम लोग बड़े दुःखी हैं, गरीब हैं। तभी तो मैं तुम्हारे यहाँ नौकरी करने के लिए आया हूँ।"

"अबू, क्या कभी तुम्हें अपने माँ-बाप याद आते हैं ?"

"बहुत कम।"

"तुम्हारे कितने बाप हैं ?"

"एक।"

"तो बेचारे को अकेले ही खेत का काम करना पड़ता होगा। भेड़ों की चरवाही और बाज़ार का सौदा भी अकेले ही करना होता होगा। क्या तुम्हारी माँ एक और बाप नहीं ला सकती थी?"

"नहीं डोल्-मा, उस देश में ऐसा रिवाज़ नहीं है।"

डोल्-मा को इस बुरे रिवाज़ द्वारा पीड़ित लोगों के प्रति सहानुभूति हो गई। इसी समय सीटी की आवाज़ आई।

"डोल्-मा, वह देखो, कोन्-चोग् मुँह में उँगली डालकर सीटी बजा रहा है। तुम यहीं रहो, मैं जाता हूँ, शायद भेड़िया आया हो।"

स्मृति के उठते ही र-शी भी—यही उस काले कुत्ते का नाम था—उठकर खड़ा हो गया और साथ भेड़ों की ओर चलने लगा। भेड़ें पहाड़ की दूसरी ओर चर रही थीं। स्मृति यद्यपि उतराई में अपने साथियों की तरह सरपट नहीं भाग सकते थे, तो भी, सालभर में उन्होंने अपने को बहुत निडर बना लिया था और वे काफ़ी जल्द चल लेते थे। भेड़ों को ऊपर की ओर भागते देख र-शी दौड़कर पहले वहाँ पहुँचा। र-शी के लम्बे डील-डौल को देखते और भयंकर आवाज़ को सुनते ही भेड़िया तिरछा ऊपर की ओर भागता दिखाई दिया। र-शी ने कुछ दूर तक पीछा किया; किन्तु चढ़ाई में वह भेड़िये की गति से नहीं दौड़ सकता था। लौटते वक्त उसको एक खरगोश दिखाई पड़ा। किस्मत का मारा र-शी के डर से नीचे की ओर भागने लगा, और चन्द ही मिनटों में वह उसके कान तक फटे मुँह के बीच में आ गया।

स्मृति और कोन्-चोग् ने भेड़ों को पहाड़ की दूसरी ओर हाँक दिया और दोनों एक छोटी चट्टान पर बैठ गये। थोड़ी ही देर में र-शी भी आ गया। उसके मुँह में लगा लोहू और खरगोश के नरम बाल बतला रहे थे कि र-शी को भेड़िया भगाने का पारितोषिक मिल गया था।

(२)

"अबू, इसमें क्या लिखा है?" डोल्-मा ने एक चट्टान पर बैठे हुए स्मृतिज्ञान से पूछा।

"डोल्-मा, इसमें भगवान के मुख से निकली गाथायें हैं। इसे उदान कहते हैं।"

स्मृति को ता-नग् में चरवाही करते पाँच वर्ष बीत गये थे। डेढ़ वर्ष के भीतर ही उन्हें भोट-भाषा बोलना-समझना अच्छी तरह आ गया। भोट वर्णमाला को तो लो-च और पद्मरुचि ने नेपाल में ही उन्हें सिखा दिया था। भाषा सीख लेने पर अब उन्हें पुस्तकों को पढ़ने की इच्छा हुई। लेकिन वे नहीं चाहते थे कि लोग उनकी विद्या को जान जायँ, और फिर चरवाही उनसे छिन जाय। ता-नग् के मठ में एक बूढ़ा साधु रहता था। स्मृति ने सेवा-पूजा करके उससे घनिष्ठता बढ़ाई। किसी समय उक्त मठ में कोई विद्वान साधु रहा करता था। उसने अच्छी पुस्तकों का एक सुन्दर संग्रह किया था। मालूम होता है, साठ-सत्तर वर्ष से किसीने 'शत-साहस्रिका प्रज्ञा-पारमिता' को छोड़कर बाक़ी पुस्तकों को छूआ तक नहीं, इसलिए उनके ऊपर अंगुल-अंगुल मोटी गर्द जम गई थी। बूढ़े ने झाड़कर फिर से उन पुस्तकों को बाँधने की अनुमति दे दी। उस वक्त स्मृति ने देखा कि उनमें काव्य, दर्शन, बुद्ध-उपदेश आदि की कितनी ही पुस्तकें हैं, जिनमें कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें वे संस्कृत में पढ़ चुके थे। साथ ही वहाँ उन्हें भोट-भाषा का एक व्याकरण और उनसे कण्ठस्थ किये गये अमरकोष और उसका भोट अनुवाद भी मिला। अब तो स्मृति प्रायः प्रतिदिन बूढ़े के पास पहुँचते थे। पानी भर लाते थे, झाड़ू दे देते थे, जूते की मरम्मत कर देते थे। वे चमड़े के एक छोटे चोगे में पुस्तक के पत्रों को डालकर अपने साथ ले जाते और भेड़ों को चराते वक्त किसी पहाड़ी चट्टान पर बैठ पन्ने निकालकर पढ़ने लगते थे। पूछने पर चरवाहों से कह देते थे, 'धर्म का पाठ कर रहे हैं।'

आज भी स्मृति एक पुस्तक पढ़ रहे थे।

कोन्-चोग् ने झोले ज़मीन पर पटककर हाँफते हुए कहा—"अबू! अबू! उस नाले में एक काली पिशाचिन है। आज मैं बाल-बाल बच गया। मैं भेड़ों को उधर हाँकने गया था। देखा, दूर नीचे—उस बड़ी शिला के नीचे—सफ़ेद वृक्ष जैसी लम्बी काली पिशाचिन खड़ी है। वह मेरी

ही ओर देख रही थी। उसकी लाल लाल आँखें अब तक मुझे याद हैं। मैं जान छोड़कर वहाँ से भागा। ओह! थोड़ा और नीचे जाने पर वह ज़रूर मुझे खा जाती।"

डोल्-मा ने एक साँस में कहना शुरु किया, "हाँ, मेरी माँ बतलाती थी कि उस नाले में एक काली पिशाचिन रहती है। माँ ने खुद, और दूसरी औरतों ने भी, कण्डे बीनते वक्त उसे देखा है। उस पूरबवाले नाले में एक काला भूत रहता है। वह तो दौड़कर पकड़ता है। उस दिन देखा नहीं? चँवरी मुँह से खून निकालकर मर गई। यह उसी काले भूत का काम था। ओह, मेरा तो कलेजा काँपता रहता है। हर नाले, हर चट्टान, हर मैदान में भूत ही भूत हैं। उस मुर्दा काटने की चट्टान पर तो सैकड़ों हैं। शाम होते ही नाचने-गाने लगते हैं। कोन्-चोग्, अबू-ने-ले रातदिन अकेले दुकेले जहाँ चाहते हैं, चले जाते हैं, उन्हें डर नहीं लगता। अबू, क्या कभी तुमने भूत देखा है?"

"नहीं, मैंने तो नहीं देखा; किन्तु तुम लोगों को दिखा सकता हूँ।"

दोनों एक साथ बोल उठे, "कैसे? तुमने खुद भूत नहीं देखा, तब फिर दूसरों को कैसे दिखाओगे?"

"मैं भूत को पैदा करता हूँ।"

"क्या कहते हो, मैं भूतों को पैदा करता हूँ! क्या भूत पैदा किये जाते हैं?"

"हाँ, डोल्-मा, सपने में तुम किन चीज़ों को देखती हो? उन्हीं चीजों को न, जिनकी शक्ल पहले तुमने देखी है?"

"हाँ हाँ!"

"उसका कारण क्या है? जो चीज़ हम देखते हैं उसकी छाया मन पर अंकित हो जाती है, उसी को हम सपने में देखते हैं। इसी प्रकार, जैसे स्थान पर जिस प्रकार के भूत होने की बात हम सुनते रहते हैं, वैसा स्थान और समय मिल जाने पर हमारे मन का ख़्याल ही भूत का रूप धारण कर बाहर चला जाता है। भूत-प्रेत असल में हमारे ही मन की उपज हैं।

जिसे यह असल बात समझ में आ जाती है, मन से भय का ख्याल हट जाता है, उसे वे चीज़ें नहीं दिखाई देतीं।"

"किन्तु अबू, तुम कह रहे थे, हमें भूत दिखाने की बात, सो कैसे ?"

"क्योंकि तुम्हारा मन भूत-प्रेत के भाव से भरा हुआ है, तुम भूतों से डरती हो, इसलिए यदि मैं तुम्हारे दिल में विश्वास उत्पन्न कर तुम्हें भूतों का आकार-प्रकार वर्णन करके उनको देखने की प्रेरणा करूँ, तो तुम उन्हें देखने लगोगी। असल में तो वह भूत मेरा पैदा किया नहीं होगा। उसे तो तुम्हारा मन ही पैदा करेगा।"

"तो क्या भूत है ही नहीं ?"

"ऐसा कहने में कोई फ़ायदा न होगा, क्योंकि कमज़ोर दिलवाले स्वयं भूत पैदाकर देखते रहेंगे, और तुम्हारी बात को झूठ बतलाएँगे। जो समझाने से भूतों के न होने को बात समझ सके उसके लिए वैसा करना ठीक भी है। लेकिन जिसके भीतर बात धसे ही नहीं उसे अपनी ओर से भूत दिखलाकर, मन की अद्भुत शक्ति का ज्ञान करा, उस ख्याल को दूर करना चाहिए। बिलकुल अजान को भारी पीड़ा में पड़े देखकर कितने ही जानकार जंतरमंतर देते हैं। उसका मतलब सिर्फ मन को मज़बूत करना है। सच बात तो यह है कि यदि मन मज़बूत हो जाय तो न आदमी भूत देख सके और न उससे डरे।"

"क्या सचमुच मन ही भूत पैदा करता है ?"

"हाँ, मन की ताक़त बहुत भारी है। उस दिन मैंने तुम्हें बोध-गया, लुम्बिनी दिखलाए थे न ?"

"हाँ, गया का ऊँचे शिखरवाला मंदिर तो अब तक मुझे याद है, बहुत बड़ा है। वैसा मंदिर तो हमारे देश में कहीं नहीं है।"

"वह दर्शन क्या था ? सचमुच तुम 'गया' पहुँच गई या 'गया' तुम्हारे पास चला आया ? नहीं, तुम्हारे चित्त को और जगहों से हटाकर मैंने लम्बी चौड़ी इमारत तुम्हें बतलाई, तुम्हारे मन ने वैसी ही एक चीज गढ़कर सामने रख दी। भूत के देखने में भी बचपन से सुने जानेवाले ख्याल ही मन को भूत पैदा करने पर मजबूर करते हैं।"

"अबू-ने-ले, तुम्हारी बातें सुन-सुनकर तो मेरा मन भी उसे ठीक मानने लगता है, लेकिन फिर अकेले में डरने लगता है।"

"क्योंकि बचपन से घुसे ख्याल अभी बहुत मजबूत हैं। जब वे निकल जायेंगे, या निर्बल हो जायेंगे, तब तुम भी भूतों की दासी नहीं रहोगी, बल्कि जरूरत पड़ने पर मेरी तरह भूतों को जन्म देनेवाली बन जाओगी, अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए।"

(३)

"अबू, भेड़ें घर में रख दीं? अच्छा लो, यह मट्ठा रखा है, पी लो, फिर ऊखल में इस थोड़े से सत्तू को पीस डालो।" भेड़ें चराकर शाम को लौटते ही स्मृति से यह कहते हुए मालकिन ने भूने जवों से भरी चँगेरी की ओर इशारा किया।

स्मृति को रात रहते ही उठना पड़ता था। चँवरियों और भेड़ों के बाँधने की जगह से वे गोबर-मेंगनियों को उठाकर बाहर कूड़े में फेंकते थे। झाड़ते-बुहारते, पानी भरते और मालकिन की नई नई फरमाइशों को पूरा करते करते पहर दिन चढ़ जाता था। तब थोड़ा-सा थुक्-पा (चरबी, मांस, सत्तू डालकर बनी पतली लेई जैसा भोजन) पीते, एक टुकड़ा सूखा माँस खाते और फिर झोले में भुना जौ डाल भेड़ों को ले जाने के लिए तैयार हो जाते। दिन भर की चरवाही के बाद लौटते, तब फिर भेड़ों को उनके बाँड़े में करते ही मालकिन कामों की फरमाइश करने लग जाती थीं। अबू-ने-ला को बिना काम में लगे देखना वे बरदाश्त नहीं कर सकती थीं। दिनभर के काम से थके-माँदे स्मृति खा-पीकर सोना चाहते थे, उस वक्त उन्हें पत्थर की खरल-उखली में सत्तू पीसने का काम बता दिया जाता था।

बेचारे स्मृति का बदन आज दिन भर के काम से चूर-चूर हो रहा था। ऊपर से बड़े जोर से नींद आ रही थी। पीसते-पीसते एक बार ज्योंही झपकी ली, उनका सिर लोढ़े पर तड़ाक से जाकर बजा। अभी उस चोट की पीड़ा से उनका दिल तिलमिला ही रहा था कि मालकिन ने वाग्बाण छोड़ने शुरु किये, "अरे अबू, सत्तू सत्यानाश करके ही छोड़ेगा? बड़े बेपरवाह आदमी हो।

क्या जौ बिखेर दिये ?" स्मृति की आँखों में आँसू छलछला आये। उन्होंने अपने मन में कहा—"क्या इन जवों से भी मेरा सिर सस्ता है, जो उसके फूटने की बात सुनकर जवों के बिखेर देने की बात कही जाती है !"

जाड़े के दिन थे। हड्डी तक जमा देनेवाली तिब्बत की ठंड थी। स्मृति भेड़ों को चरने की जगह छोड़कर भेड़ की पोस्तीन पहने एक चट्टान की आड़ में धूप ले रहे थे। एकाएक ऊपर उड़ते बाज के चंगुल से छूटकर एक मरी मैना उनके सामने आ गिरी।

"अरे मैना, यहाँ कहाँ ! मैना, तू कैसे आई ? आह ! भारत के आम्रकुंजों में निर्द्वन्द्व विहरनेवाली मैना, तू कैसे इस अपरिचित बेगाने मुल्क में ? मैना, तेरी तरह मैं भी इस बेगाने अपिरिचित मुल्क में आ पड़ा हूँ। जैसी वेदनाएँ तूने सहीं, मैं सात साल से दिन-रात सह रहा हूँ। और कौन जानता है, तेरी तरह मुझे भी अज्ञान गुमनाम इस बियाबान में शरीर छोड़ना पड़े। मैना, तू सौभाग्यशालिनी है। तुझे इस अपरिचित स्थान में भी मुझ जैसा अपना देशवासी दो आँसू बहाने के लिए तो मिल गया। मेरे भाग्य में तो शायद यह भी बदा नहीं है।"

कहते-कहते स्मृति का गला भर आया, वे रो पड़े।

"अबू, क्या कर रहे हो इतनी देर से ? देखो, काठ की बालटी ले आओ, बछड़े को खोल दो, चँवरी दुहूँगी।"

"जैसी आज्ञा" कहकर स्मृति ने बछड़े को छोड़ दिया और बालटी मालकिन को थमा दी।

"अबू-ने-ले, चँवरी ऊँची है, बैठ जाओ, मैं दूध दुह लूँ।"

स्मृति घुटनों के बल बैठ गए और मालकिन बेतकल्लुफी से उनकी पीठ पर बैठकर दूध दुहने लगी। स्मृति जवान थे। उनका शरीर भी खूब मज़बूत था। किन्तु अत्यधिक परिश्रम और भोजन की दुर्व्यवस्था ने उनके शरीर को निर्बल बना दिया था; ऊपर से पिछले मास के ज्वर ने सोने के शरीर को मिट्टी में मिला दिया था। संकोच के मारे उन्होंने 'नहीं'

तो न कहा; किन्तु मालकिन के शरीर के बोझ को सँभालने में उनकी बुरी हालत हो गई। एक बार उनके जैसे, आदर्शवादी की आँखें भी डबडबा आईं और वे अपने मन में कहने लगे—"आह भोट देश! तेरे यहाँ मनुष्य का कुछ भी मोल नहीं! भारत में भी दास हैं। उनकी ख़रीद-फ़रोख़्त भी होती है। वे सताये भी जाते हैं। किन्तु मनुष्य से घोड़े का काम तो वहाँ भी नहीं लिया जाता!"

"चो-ला, क्या कहते हो? यह गीत तुम्हारे चरवाहे ने बनाया है?" जीभ निकाल करके धनी और बड़े प्रभावशाली विद्वान साधू चे-से-चव् ने लो-च-वा के प्रति सम्मान प्रगट करते हुए स्मृति के मालिक से कहा।

"हाँ जी, वह इस तरह के अडंबंड गीत बनाया करता है और दीवारों, पत्थरों और लकड़ियों पर जहाँ तहाँ लिख देता है। उसके साथी चरवाहों को उसके बनाये बहुत गीत याद हैं।"

"चरवाहा कितने दिन से तुम्हारे पास है?"

"आठ वर्ष हो गये।"

"और उम्र?"

"यही बत्तीस-तैंतीस की होगी।"

"उसे चरवाही छोड़कर दूसरा काम क्यों नहीं देते।"

"कहता तो हूँ; किन्तु, वह उसी को पसन्द करता है। वह काम में बड़ा मुस्तैद है। ग़ुस्सा होना तो जानता ही नहीं। इसलिए हम लोग नहीं चाहते कि उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ काम दिया जाय।"

"उसका जन्म क्या तुम्हारे ही गाँव का है या ल्हो-खा का?"

"नहीं, न वह हमारे गाँव का है न ल्हो-खा का। उसकी सूरत दूसरी ही तरह की है। बड़ी लम्बी भोंड़ी-सी नाक है। हमारे गाँव के बूढ़े अखू-तो-बग्य बहुत घूमे हैं। वे कहते हैं, अबू-ने-ला का मुँह स्वामी दीपंकर श्रीज्ञान से बहुत मिलता है। ने-ला तो ठीक नहीं बताता, पूछने पर कह देता है, दक्षिण में नेपाल की ओर मेरे माँ-बाप रहा करते थे।"

"तुम नहीं पहचानते, वह कोई महापुरुष है, भेस बदलकर तुम्हारी नौकरी कर रहा है।"

"हम लोग तो अधिक पढ़े-लिखे नहीं हैं। इतना जानते हैं कि ने-ला को तारा की स्तुति याद है। वह बड़ा आज्ञाकारी नौकर है, इसलिए हमें बहुत प्रिय है।"

चे-से-चब् को निश्चय हो गया कि उनके मेजवान का चरवाहा साधारण आदमी नहीं है, और जो उड़ती खबर उन्हें मिली थी कि एक भारतीय पंडित ता-नग् में कई वर्षों से भेड़ों की चरवाही कर रहा है, सो ठीक है। उन्होंने घर के मालिक से पूछा, "अब्रू-ने-ला कहाँ है? क्या मैं उन्हें जाकर देख सकता हूँ?"

"वह भेड़ों के साथ आता ही होगा। आप क्यों तकलीफ़ करेंगे?"

भेड़ें आ गईं, किन्तु स्मृति साथमें नहीं आए। चे-से-चब् ने उकताकर फिर पूछा। घरवाले ने कहा—"हमारी गुम्बा का साधु आजकल बीमार है। ने-ला रोज शाम-सेबेरे उसकी सेवा के लिए जाया करता है। अभी आता ही होगा।"

थोड़ी देर के बाद दूर से आता हुआ एक आदमी दिखाई पड़ा। उसका क़द लम्बा था, शरीर कृश, ललाट आगे को उभड़ा हुआ। बीसों जगह से फटा चोगा और सड़ा-गला जूता उसकी असहनीय दरिद्रता को बतला रहा था। चेहरे को अच्छी तरह देखते ही चे-से-चब् को पहचानने में देर न लगी। एक भारतीय पण्डित महात्मा, और वह इस स्थिति में! सोचते ही उनकी आँखें भर आईं और उठकर बड़े विनय भाव से स्मृति का अभिवादन कर कहा, "स्वामी, आपने क्यों यह कष्टमय जीवन स्वीकार किया है?"

"मैं जो काम कर सकता हूँ उसी को कर रहा हूँ। संसार में ईमान-दारी के साथ जीविका के लिए कोई काम करना ही चाहिए।"

"अरे! आप जैसे महान् पण्डित के लिए यह काम शोभा नहीं देता।"

"आप गलती कर रहे हैं। शायद आप किसी दूसरे के भ्रम में हैं। मैं तो मालिक का एक गरीब मूर्ख नौकर हूँ।"

"नहीं, अब आप अपने को छिपा नहीं सकते। आठ वर्ष चुपचाप भेड़ें चरा लीं सो चरा लीं।"

स्मृति ने अपने को बहुत छिपाना चाहा; किन्तु अब वह हो नहीं सकता था। आखिर हारकर उन्होंने कहा—"मैं इस जीवन से सन्तुष्ट हूँ।" लेकिन चे-से-चब् तो उनसे विद्या सीखने के लिए आया था। वह उनकी सहायता से संस्कृत ग्रन्थों का भोट भाषा में अनुवाद करना चाहता था। स्मृति के बहुत ज़िद्द करने पर उसने कहा, "तब मैं भी आपके साथ यहीं रहूँगा।" अन्त में यह ठहरा कि यदि मालिक छुट्टी दे दें, तो स्मृति साथ जायेंगे।

मालिक ने अकेले में पूछने पर कहा—"नहीं महाराज, आप बड़े हैं, हम पर दया कीजिए। ने-ला हमारा बड़ा अच्छा नौकर है। उसके बिना हमारे घर का काम नहीं चल सकता। उसे पण्डित और महात्मा बनाकर हमसे मत छीनिए। आपको ऐसे दूसरे नौकर मिल सकते हैं।"

स्मृतिज्ञान कीर्ति के जीवन-लेखकों ने लिखा है कि चे-से-चब् के बहुत कहने पर भी स्मृति को उनका मालिक देने पर राजी नहीं हुआ। अन्त में इस तरह काम बनता न देख, वे अपनी दिव्यशक्ति दिखलाने पर मज़बूर हुए। देखते देखते ता-नग् का आकाश-मण्डल मेघाच्छन्न हो गया। घनघोर वर्षा होने लगी। ब्रह्मपुत्र की धार बढ़कर गाँव के पास तक आ गई। चे-से-चब् ने पूछा, "गाँव को डुबाना चाहते हो या भारतीय महात्मा को ले जाने की हमें अनुमति देते हो?" अन्त में बेचारे को हाँ कहना पड़ा। स्मृति ने फिर चे-से-चब् के लाये भिक्षुओं के वस्त्र को पहना। घरवालों ने अपने अपराधों के लिए बार-बार क्षमा माँगी और एक दिन सबेरे अपने आठ वर्ष के निवास और उसके निवासियों की ओर हसरतभरी निगाह से देखते हुए स्मृतिज्ञान चे-से-चब् के साथ चल दिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। स्मृतिज्ञान को भोट-साहित्य पाने के लिए किन मुसीबतों का मुकाबला करना पड़ा ?

२। स्मृतिज्ञान के चरित्र की विशेषताएँ अंकित कीजिये ।

३। इस पाठ के आधार पर तिब्बत के सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालिये ।

हींगवाला

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

[स्व० सुभद्राजी प्रथमतः कवयित्री थीं। 'झाँसी वाली रानी' नामक आपकी एक कविता हिन्दी में आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है। आपकी रचनाएँ आपके जीवन का प्रतिबिम्ब हैं। आपके मुख्य विषय हैं:—देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, मानवता और सामाजिक जीवन। आप मध्यप्रदेश की प्रमुख सार्वजनिक सेविका और असेम्बली की सदस्या थीं। अपने दैनिक जीवन के अनुभवों और प्रसंगों को ही आपने लिपिबद्ध किया है। इसीलिए आपके कर्तृत्व में अनुभूति की सच्चाई परिलक्षित होती है। १५ फरवरी सन् १९४८ को जबलपुर के निकट एक मोटर-दुर्घटना से आपका देहान्त हो गया।

प्रमुख रचनाएँ :—

बिखरे मोती, सीधे-सादे चित्र, मुकुल आदि।]

"अम्माँ.............हींग लेगा" कहता हुआ एक खान, लगभग ३५ साल का, आँगन में आकर रुक गया। पीठ पर बँधे हुये पीपे को खोलकर उसने नीचे धर दिया और मौलश्री के नीचे बने हुये चबूतरे पर बैठ गया। भीतरी बरामदे से एक नौ-दस बरस के बालक ने बाहर निकलकर उत्तर दिया—"अभी कुछ नहीं लेना है, जाओ।"

पर खान इतने में भला क्यों जाने लगा? वह ज़रा और आराम से बैठ गया और अपने साफे के छोर से हवा करता हुआ बोला—"अम्माँ, हींग ले लो अम्माँ। हम अपने देश कू जाता है। बहुत दिनों में लौटेगा।" सावित्री इस हम-उम्र बेटे की बात शायद ही टाल सकी हो। रसोईघर से हाथ धोकर वह बाहर आई, बोली—"हींग तो बहुत-सी रखी है खान। अभी पंद्रह दिन हुये नहीं तुमसे हींग ली थी।" खान ने जैसे सावित्री की बात सुनी भी न हो। उसी स्वर में फिर बोला—"हेरा हींग है माँ, हम तुम्हारे हाथ की बोहनी माँगता है। एक ही तोला ले लो, पर लो ज़रूर। हम

देकर जायगा।" इतना कहकर खान ने हींग के छोटे-बड़े कई डिब्बे खोलकर रख दिये। सावित्री उन डिब्बों की तरफ देख भी न पाई थी कि उसने फौरन एक डिब्बा सावित्री के सामने सरकाते हुए कहा—"तुम और कुछ मत देखो माँ, यह हींग एक नम्बर है। हम तुम्हें धोखा नहीं देगा माँ।"

सावित्री बोली—"पर मैं इतनी हींग लेकर करूँगी क्या? ढेर-सी तो रखी है।" खान ने कहा—"कुछ भी ले लो अम्माँ। हम देने के लिये आया है। घर है, पड़ी रहेगी। फिर आज हम अपने देश कू जाता है। खुदा जाने कब लौटेगा।" और खान बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये हींग तौलने लगा। इस पर सावित्री के बच्चे बहुत नाराज़ हुये। सभी बोल उठे—"मत लेना माँ, तुम कभी न लेना। जबरदस्ती तौले जा रहा है।" जब खान ने हींग तौलकर पुड़िया बनाकर सावित्री के सामने रख दी तब सबसे छोटे बच्चे ने पुड़िया उठाकर खान को फेंकते हुए कहा—"ले जाओ, हमें नहीं लेना है। चलो माँ, भीतर चलो।"

सावित्री ने किसी की बात का उत्तर न दे हींग की पुड़िया उठा ली और पूछा—

"कितने पैसे हुए, खान?"

"सवा छः आने पैसे अम्माँ"—खान ने उत्तर दिया। सावित्री ने पाँच पैसे तोले के भाव से सवा छः आने पैसे लाकर खान को दे दिये। खान सलाम करके चला गया। पर सावित्री के बच्चों को माँ की यह बात अच्छी न लगी। वे तीनों बहुत नाराज़ थे। उन्हें यही लग रहा था कि माँ ने खान को इतने पैसे दे दिये हैं, अभी हम माँगें तो कभी न दे। सबसे छोटा बच्चा जिसकी उम्र छः साल के लगभग थी बोला—

"भैया। माँगो तो भला माँ से पैसे, फिर हम लोग मलाई का बरफ़ खायेंगे।"

बड़े लड़के ने कहा—"माँ, तुमने खान को वैसे ही छः आने पैसे दे दिये हैं। हींग की कुछ जरूरत नहीं थी।" इसके आगे उसे कुछ कहने का साहस न हुआ, पर छोटे के कानों में तो मलाई के बरफ़ वाले की आवाज गूँज रही थी—

'मलाई का बरफ़, ठंडा बरफ़।' वह माँ से बिगड़कर बोला—"दो माँ, छः आने पसे हमको भी दो। हम बिना लिये न रहेंगे।" लड़की जिसकी उम्र आठ साल की थी, बड़े गंभीर स्वर में बोली—"तुम माँ से पैसा न माँगो। वे तुम्हें न देंगी। उनका बेटा तो वही ख़ान है, हम नहीं हैं।" सावित्री को इन बच्चों की बातों से हँसी आ रही थी किन्तु उसने अपनी हँसी दबाकर बनावटी क्रोध से कहा—

"चलो चलो, बड़ी बातें बनाने लग गये हो, खाना तैयार है, खाओ।" छोटा बोला—"पहले पैसे दो। तुमने ख़ान को दिये हैं।"

सावित्री ने कहा—"ख़ान ने पैसे के बदले में हींग दी है। तुम क्या दोगे?"

छोटा—"मिट्टी देंगे।"

सावित्री हँस पड़ी—"अच्छा चलो पहिले खाना खा लो फिर मैं रुपया तुड़ाकर तीनों को छः-छः आने दूँगी।"

खाना खाते खाते हिसाब लगा—एक रुपये में सोलह आने, छः आने रतन लेगा, छः आने मुन्नी लेगी; छोटे के लिये तो चार ही आने बचेंगे। छोटा बिगड़ पड़ा—"कभी नहीं, मैं छः आने लूँगा।" और दोनों में मार-पीट हो चुकी होती यदि मुन्नी चार आने पैसे स्वयं लेना स्वीकार न कर लेती।

कई महीने बीत गये। सावित्री की हींग सब ख़तम हो गयी। इसी बीच होली आयी। होली के अवसर पर हिन्दू मुसलमानों में बड़े भयंकर रूप से दंगा हो गया। बहुत से हिन्दू और मुसलमान मारे गये। मुसलमान मरनेवालों में दो ख़ान भी थे। इससे ख़ान लोगों ने बड़ा उपद्रव मचाया; परन्तु सब जगह नहीं। जिस मुहल्ले में ख़ान मारे गये थे वहाँ पर ख़ानों के उपद्रव ने भयंकर रूप धारण कर लिया था। उन्होंने कई हिन्दुओं की दूकानें लूट लीं; घरों में आग लगा दी और न जाने क्या किया। १४४ के साथ साथ करफ्यू आर्डर भी लगाया गया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं की होली न जल पायी। वे हिन्दू के प्राणों के ग्राहक हो रहे थे। शहर भर में

आतंक छाया हुआ था। कौन किसपर किस समय घात कर दे, कुछ ठिकाना न था। ऊपर से देखने में सब जगह शांति दिखायी देती थी; परंतु अंदर ही अंदर एक भयंकर अग्नि सुलग रही थी। दो ख़ान मारे गये हैं। सावित्री कभी कभी सोचती, हींगवाला ख़ान तो नहीं मार डाला गया। फिर सोचती, मार डाला गया हो तो मरने दो, दूसरे हींगवाले भी तो होंगे। परन्तु न जाने क्यों उस हींगवाले ख़ान की याद उसे प्रायः आ जाया करती। एक दिन सबेरे-सबेरे सावित्री उसी मौलश्री के पेड़ के नीचे चबूतरे पर बैठी कुछ बीन रही थी। स्कूल की छुट्टी थी। तीनों बच्चे आपस में खेल रहे थे। सावित्री ने सुना, उसके पति किसी से कड़े स्वर में कह रहे हैं—

"क्या काम है? भीतर मत जाओ। यहाँ आओ।"

उत्तर मिला—"हींग है हींग, हेरा हींग।" और ख़ान तब तक आँगन में सावित्री के सामने पहुँच चुका था। ख़ान को देखते ही सावित्री ने कहा—"बहुत दिनों में आये ख़ान, हींग तो कबकी खतम हो गयी।"

ख़ान—"देश कू गया था अम्माँ; पस्सू (परसों) तो लौटा ही हूँ।"

सावित्री—"यहाँ तो हिन्दू-मुसलमानों में बहुत ज़ोरों का दंगा हो गया है।"

ख़ान—"सुना, समझ नहीं है लड़नेवालों में।"

सावित्री—"ख़ान, तुम हमारे घर चले आये। तुम्हें डर नहीं लगा?"

दोनों कानों पर हाथ रखते हुए ख़ान बोला—"ऐसी बात मत कहो अम्माँ। बेटे को भी क्या कभी माँ से डर हुआ है जो मुझे होता।" और इसके बाद ही उसने अपना डिब्बा खोला और एक छटाँक हींग तौलकर सावित्री को दी। चिल्लर दोनों में से किसी के पास न थी। ख़ान पैसा फिर आकर ले जायगा। सावित्री को सलाम करके वह चला गया।

दशहरा हिन्दुओं का बड़ा त्योहार होता है। होली पर दंगा हो ही चुका था। अभी किसी प्रकार के दंगे की आशंका न थी। शहर भर में पूर्ण शांति थी। हिन्दू होली न जला सके थे, इसलिये भरे तो बैठे ही थे। दशहरा वे दूने उत्साह के साथ मनाने की तैयारी में थे। हिन्दुओं में ख़ूब उत्साह था।

चार बजे शाम को काली का जुलूस निकलने वाला था। पुलिस का काफ़ी प्रबंध था। किसी प्रकार के दंगे की आशंका न होते हुये भी सावधान रहने की ज़रूरत थी। सावित्री के बच्चों ने कहा—"हम भी काली का जूलूस देखने जायेंगे।" सावित्री के पति शहर से बाहर गये थे। सावित्री स्वभाव से ही कुछ भीरु थी, फिर भला वह बच्चों को जुलूस देखने कैसे भेज दे जब कि उसके पति घर में नहीं हैं? उसने बच्चों को पैसों का, खिलौनों का सिनेमा का न जाने कितने प्रलोभन दिये, पर बच्चे न माने सो न माने। नौकर श्यामू स्वयं जुलूस देखने को बहुत उत्सुक हो रहा था। उसने भी कहा—"भेज दो न माँजी, मैं अभी तो दिखाकर लिये आता हूँ। मुहल्ले में से और भी तो लोग गये हैं।" और कई कल्पित नाम शामू गिना गया। अब बच्चों ने और भी ज़ोर पकड़ा, उनका एक समर्थक भी तो बढ़ गया था न? लाचार, इच्छा न होते हुए भी सावित्री को काली का जुलूस देखने के लिये बच्चों को भेजना ही पड़ा। परंतु उसने बार बार श्यामू को ताकीद कर दी कि दिन रहते ही वह बच्चों को लेकर लौट आवे।

बच्चे तो ख़ुशी-ख़ुशी काली का जुलूस देखने गये। और इधर बच्चों को भेजने के साथ ही सावित्री के प्राण जैसे मुरझा गये। अब वह थी और उसका सालभर का गोदी का बच्चा। बच्चों को भेजने के साथ ही सावित्री उनके लौटने की प्रतीक्षा भी करने लगी, किन्तु देखते ही देखते दिन ढल चला, अंधेरा भी बढ़ने लगा, पर सावित्री के बच्चे न लौटे। अब सावित्री को न भीतर चैन थी न बाहर। वह घबराई हुई बच्चों को भेज देने की अपनी मूर्खता पर पछताती हुई कभी भीतर जाती, कभी बाहर आती। इतने में ही उसे कुछ आदमी सड़क पर भागते हुये जान पड़े। वह दौड़कर बाहर गयी। उन आदमियों से पूछा—"ऐसे भागे क्यों जा रहे हो? काली का जुलूस तो निकल गया न?"

एक आदमी—"दंगा हो गया माँजी! दंगा, बड़ा भारी दंगा!!" कहता हुआ आगे बढ़ गया। सावित्री के हाथ-पैर जैसे ठंडे पड़ गये। इसी समय कुछ लोग और तेज़ी से जाते हुये दिखे। सावित्री ने उन्हें भी रोका।

उन लोगों ने कहा—"दंगा हो गया है। मस्जिद के पास पुलिस ने गोली चला दी है। लोगों के मारे सड़क बंद हो गयी है। हजारों आदमी मर गये।"

अब सावित्री क्या करे? उन्हीं में से एक से कहा—"भाई, तुम मेरे बच्चों की ख़बर ला दो। दो लड़के हैं एक लड़की, मैं तुम्हें मुँह माँगा इनाम दूँगी।"

एक देहाती ने जवाब दिया—"का हम तुम्हारे बच्चन का पहचानित हैं माँजो? फिर जानसे पियार कुछो नहीं होत। जहाँ इतनी गोली चलि रही हैं, घोड़ा दौड़त हैं, को मरने को जाय। इनाम देव चाहे ख़जाना उलट देव, कोउ न जाई।"

वे चले गये।

सावित्री सोचने लगी—सच तो है, इतनी भीड़ में भला देहाती मेरे बच्चों को खोजते भी कैसे? उनसे बच्चों की ख़बर लाने के लिये कहना ही भूल थी। पर वह भी करे तो क्या करे? सालभर के गोद के बच्चे को न तो छोड़कर ही जा सकती थी और न लेकर ही। मुहल्ला-पड़ोस में भी ऐसा कोई नहीं जिसे वह भेज दे। उसे रह रह कर अपने पर क्रोध आ रहा था। आख़िर उसने बच्चों को भेजा ही क्यों? वे तो बच्चे ठहरे, ज़िद तो करते ही, पर भेजना न भेजना उसके हाथ की बात थी। अगर वह न भेजती तो क्या बच्चे ज़बरदस्ती चले जाते? और वह श्यामू? जब देखो तभी अपनी टाँग अड़ा देता है। "अभी दिखाकर लाता हूँ माँजो" और उसका 'अभी' अभी तक हुआ ही नहीं।

सावित्री पागल-सी हो गयी। उसे रह रह कर लाशों के बीच अपने बच्चे भी तड़पते दिखाई पड़ते। बच्चों की मंगल कामना के लिये उसने सभी देवी-देवता मना डाले। शोरगुल बढ़कर शांत हो गया। रात के साथ साथ नीरवता बढ़ चली, पर उसके बच्चे लौटकर न आये। अब शायद उसके बच्चे लौटकर न आयेंगे। सावित्री हताश होकर सोये हुए बच्चे के पैताने जाकर गिर-सी पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी।

इसी समय ऐसा जान पड़ा जैसे कोई गाड़ी जाकर उसके दरवाज़े पर रुकी हो और उसे वही चिर परिचित स्वर सुनाई पड़ा—'अम्माँ', सावित्री दौड़कर बाहर गयी। उसने देखा, उसके तीनों बच्चे ख़ान के साथ सकुशल आये हैं।

ख़ान ने सावित्री को देखते ही कहा—"बख़त अच्छा नहीं अम्माँ। बच्चों को ऐसी भीड़भाड़ में बाहर न भेजा करो।"

फिर सावित्री को ख़ान से ही मालूम हुआ कि दंगा ज़रूर हो गया था। झूठे फायर भी पुलिस को करने पड़े। पर मरा कोई नहीं। कुछ लोग घायल ज़रूर हुए हैं। पर पुलिस की गोली से नहीं, पत्थरों से। अब सब जगह शांति है।

बच्चे दौड़कर सावित्री से लिपट गये। छोटे ने कहा—"अम्माँ, ख़ान बहुत अच्छा आदमी है। दंगा होते ही श्यामू तो हमें छोड़कर भाग गया। ख़ान ने ही हमें बचाया, नहीं तो हमें भी चोट आती।"

सावित्री ने पूछा—"अच्छा, अब तो ख़ान से हींग लेने दोगे?"

बच्चों ने एक स्वर से कहा—"हाँ, हाँ, ज़रूर लेने देंगे। ख़ान तो हमारा दोस्त है।"

ख़ान ने डपटकर कहा—"नहीं, दोस्त नहीं। हम तुम्हारा भाई है, भाई।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। हींगवाले का चरित्र-चित्रण कीजिये।
२। इस कहानी को आप अपने शब्दों में लिखिये।

एक लड़के की जान की क़ीमत सवा रुपया

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

[आनन्दजी बौद्ध भिक्षु हैं और बौद्ध साहित्य के गंभीर अध्येता हैं। जातक कथाओं का हिन्दी में अनुवाद करके इन्होंने पाली के बौद्ध ग्रन्थों को हिन्दी जगत् के लिए सुलभ कर दिया है। इन रचनाओं में आनन्दजी की विद्वत्ता का परिचय प्राप्त होता है। इनकी साहित्यिक प्रतिभा और नैसर्गिक कला का उत्तम रूप इनके व्यक्तिगत निबन्धों में ही मिलता है। ये एक उच्च कोटि के शैलीकार हैं। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक वस्तु को पूर्ण प्रभावशाली ढंग से कहने की कला आनन्दजी में है। नपे-तुले सरल भाषा के छोटे-छोटे वाक्यों में ये गंभीर बात कह जाते हैं जो हृदय को स्पर्श किये बिना नहीं रहती। व्यंग्य और विनोदपूर्ण उक्तियों का इनकी रचनाओं में बाहुल्य रहता है। साथ ही मर्म को भेदने वाले कटाक्ष भी विपुल मात्रा में पाये जाते हैं। इनकी शैली की नवीनता और ताजगी अन्यत्र दुर्लभ है।

प्रमुख रचनाएँ :—

जो भूल न सका, जो लिखना पड़ा, रेल का टिकट आदि।]

मैं इस घटना अथवा दुर्घटना को लिखना नहीं चाहता था। मुझे उस आलोचक से डर लगता है जिसका काम केवल छिद्रान्वेषण रहता है, जो समालोचक न होकर केवल आलोचक होता है। ऐसे ही आलोचकों के लिये कबीर ने कहा है—

"कबीरा निंदक नियरे राखिये...............।"

बरान्दे में बैठा लिख रहा था। हमारे प्रेस का चपरासी अन्ना दौड़ा-दौड़ा आया। "स्वामीजी! उस लड़के को किसी ने मार दिया है।"

"किसने?"

"पता नहीं किसने? शायद किसी ने ज़हर दे दिया है।"

"लड़का किसका है ?"

"शायद किसी मुसलमान का।"

मेरा माथा ठनका। क्या यह 'महामारी' यहाँ भी चली आई ? मेरे पास दो ही चार दिन पहले हैदराबाद-सिन्ध-से एक पत्र आया था। पत्र सँभाल कर रखा होता तो उसे सारा-का-सारा उद्धृत कर देता। पत्र में लिखा था—"यहाँ यू० पी० के कुछ ऐसे मुसलमान पहुँचे हैं जिन-का काम बच्चों को मिठाई में जहर मिला कर देना है। आज इतने बच्चे मरे......कल इतने बच्चे मरे।" मुझे लगा कि यह बात जैसे-तैसे यहाँ पहुँच गई है, और हो-न-हो किसी-न-किसी हिन्दू ने यहाँ सिन्ध का बदला चुकाना शुरु किया है। सिन्ध में एक या कुछ मुसलमान 'हिन्दू' बच्चों को विष दे रहे हैं। यहाँ भी एक या कुछ हिन्दुओं ने मुसलमान बच्चों को विष देना आरम्भ किया है।

"इन बच्चों ने इन 'आततायी' हिन्दुओं और मुसलमानों का क्या बिगाड़ा है कि ये उन्हें विष दे रहे हैं ?" मैंने अपने से पूछा।

एक 'अभिमन्यु' को—जो स्वयं योद्धा था—मारने वाले जिस देश के इतिहास में आज तक कलंकित हैं उसी देश में छोटे-छोटे बच्चों को मिठाई में जहर दिया जाना आरम्भ हुआ है !!!

किसी को चोट लग जाये और उसकी कुछ सेवा बन सके, इस ओर से मैं जीवन में भरसक उदासीन नहीं रहा हूँ; किन्तु जो मर गया, अब उसके प्रति क्या कर्तव्य शेष रह जाता है ? अपना हो या पराया, मृत व्यक्ति के प्रति तो आदमी का एकमात्र कर्तव्य यही है कि उसके 'वियोग' का अपने मन पर कम-से-कम प्रभाव पड़ने दे।

लड़के को 'मृत' जान कर भी मैंने कागज-कलम उठाकर रख दिया और अन्ना के साथ हो लिया।

लड़का बहुत दूर न था। उसे घेरे हुए जो भीड़ खड़ी थी, वह मुझे मेरे स्थान से ही दिखाई देती थी। चन्द मिनटों में ही मैं लड़के के पास पहुँच गया।

वर्धा की भूमि कुछ ऐसी है कि यहाँ बड़ा पेड़ होता ही नहीं। एक छोटे से पेड़ के नीचे, एक गड्ढे में, दस-बारह वर्ष के लड़के को पड़ा पाया। पन्द्रह-बीस आदमी उसे घेरे थे।

"यह लड़का यहाँ कितनी देर से पड़ा है?"

"कोई दो-तीन घंटे से।"

"क्या हुआ?"

"पता नहीं। शायद किसी ने मारा है।"

"लड़का किसका है?"

"वह सामने जो रेल का बाबू रहता है उसी का नौकर है।"

"उसे किसी ने खबर नहीं दी?"

"खबर तो दी है। डर के मारे वह भी आता नहीं।"

"पुलिस को खबर दी है?"

"हाँ, दी है। लेकिन वहाँ से भी कोई आया नहीं।"

"उसका बाप-बाप कोई नहीं?"

"है। बिचारा गरीब आदमी है।"

प्रश्नोत्तर चल रहा था और मेरी नज़र सड़क पर थी। पुलिस-स्टेशन से कुल दो फर्लांग की दूरी पर यह लड़का पड़ा हुआ था और पुलिस अभी तक नहीं पहुँची थी। मैं झल्ला रहा था। इसी बीच में ख्याल आया कि लड़के के हाथ पैर तो देखने चाहिये। मैंने नब्ज़ देखी। नब्ज़ हाथ में नहीं आई। किन्तु शरीर ठण्डा नहीं लगा। मेरा ध्यान उसके पेट के नीचे की ओर गया। देखा, छोटी आँत की समाप्ति की जगह पर जैसे कुछ हिल रहा हो। तुरन्त बोला—

"कौन कहता है कि लड़का मर गया है। लड़का जी रहा है। इसे तुरन्त हास्पिटल ले चलो।"

"ले कैसे चल सकते हैं? अभी तक पुलिस नहीं आई।"

"तो क्या लड़के को मार दोगे?"

मेरे वहाँ खड़े होने से समिति के दो-चार कर्मचारी भी आते-जाते वहीं

रुक गये थे। मैंने एक को कहा कि जाकर ताँगा ले आये। उस लड़के के मालिक के घर की ओर कुछ लोग गये। पुलिस अभी भी नहीं आई थी। जब तक पुलिस न आ जाय, लोग लड़के को हास्पिटल ले जाने के पक्ष में नहीं थे।

उस दिन एक ओर 'कानून' टूटने जा रहा था और दूसरी ओर यह लड़का अपनी 'जान' तोड़ रहा था। प्रश्न यही था कि पहले कौन टूटे।

पुलिस के 'कानून' की परवाह न करके अपनी जिम्मेदारी पर मैंने लड़के को ताँगे में डलवाया। चाहता था कि कोई उसे हास्पिटल तक ले जाये। उपस्थित लोगों ने कहा—"स्वामी जी! आप ही ले जाइये।"

"मेरे ही भाग्य में यह पुण्य कार्य है" सोच मैं ताँगे पर बैठ गया। पुलिस भी तब तक आ गई। सौभाग्य से हास्पिटल और पुलिस स्थान एक ही दिशा में थे। थाने पहुँचते ही दो मिनट में लड़के की संक्षिप्त-सी रिपोर्ट दर्ज कराई गई। चन्द मिनटों में पुलिस के सिपाही और सरकारी कागज के साथ लड़का हास्पिटल में था।

डॉक्टर ने बच्चे को एक बेंच पर लिटाकर चारों ओर से देखा भाला। 'एमोनिया' जैसी कोई तेज़ चीज़ सुँघाकर उसे होश में लाने का प्रयत्न किया। लड़का होश में नहीं ही आया।

डॉक्टर की आज्ञा से वह किसी कमरे में लिटा दिया गया।

"अब डॉक्टर जानें और उनका काम।" सब लोग वापस चले आये।

दूसरे या तीसरे दिन पता लगा कि लड़का जी गया है।

ताँगा लाने वाले कर्मचारी ने कहा—"ताँगे वाले ने सवा रुपया माँगा है।"

मैंने कहा—"एक लड़के की जान की क़ीमत कुल सवा रुपया! जाओ दे दो।"

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। इस करुण संस्मरण को आप अपने शब्दों में लिखिये।
२। इस पाठ के उद्देश्य का उद्घाटन कीजिये।
३। अपने किसी स्मरणीय प्रसंग को संक्षेप में लिखिये।

मेरा वतन

श्री विष्णु प्रभाकर

[नई पीढ़ी के प्रमुख कहानी एवम् एकांकी लेखकों में विष्णुजी का महत्त्वपूर्ण तथा उच्च स्थान है। अभी अभी उपन्यासकार के रूप में भी आप ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। मानव-जीवन का सूक्ष्म-दर्शन और उसकी चातुर्यपूर्ण विवेचना आपकी रचनाओं की उल्लेखनीय विशेषता है। विष्णुजी राष्ट्रीय विचार-धारा के लेखक हैं। इनकी रचनाओं में सर्वत्र मानवतावादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। जीवन के लिए कला की साधना उन्हें स्वीकार्य है। हिन्दी को इनसे अभी अनेक उज्ज्वल आशाएँ हैं।

प्रमुख रचनाएँ :—

जिन्दगी के थपेड़े, आदि और अंत, तट के बंधन, इन्सान, जीवन पराग आदि।]

उसने सदा की भाँति तहमद लगा लिया था और फैज ओढ़ ली थी। उसका मन कभी-कभी साइकिल के ब्रेक की तरह तेजी से झटका देता था परन्तु पैर यन्त्रवत् आगे बढ़ते चले जाते थे। यद्यपि इस शक्ति-प्रयोग के कारण वह बे-तरह काँप उठता था, पर उसकी गति पर अंकुश नहीं लगता था। देखने वालों के लिए वह एक अर्द्ध-विक्षिप्त से अधिक समझदार नहीं था। वे अक्सर उसका मजाक उड़ाना चाहते थे। वे कहकहे लगाते और ऊँचे स्वर में गालियाँ पुकारते; पर जैसे ही उसकी दृष्टि उठती—न जाने उन निरीह, भावहीन, फटी-फटी आँखों में क्या होता था—वे सहम जाते; सोडा वाटर के तूफान की तरह उठने वाले कहकहे मर जाते और वह नजर दिल की अन्दरूनी बस्ती को शोले की तरह सुलगाती हुई फिर नीचे झुक जाती। वे फुसफुसाते—'ज़रूर इसका सब-कुछ लुट गया है'.... 'इसके रिश्तेदार मारे गए हैं'......'नहीं, नहीं, ऐसा लगता है कि काफिरों ने इसके बच्चों को इसी के सामने आग में भून दिया है या भालों की

नोंक पर टिकाकर तब तक घुमाया है जब तक उनकी चीख-पुकार बिल्ली की मिमियाहट से चिड़िया के बच्चे की चीं-चीं में पलटती हुई खत्म नहीं हो गई है।"

"और यह सब देखता रहा है।"

'हाँ! यह देखता रहा है। वही खौफ़ इसकी आँखों में उतर आया है। उसी खौफ़ ने इसके रोम-रोम को जकड़ लिया है। वह खौफ़ इसके लहू में इतना घुल-मिल गया है कि इसे देखकर डर लगता है।'

'डर'—किसी ने कहा था—'इसकी आँखों में मौत की तस्वीर है, वह मौत जो कत्ल, खूँरेजी और फाँसी का निजाम सँभालती है।'

एक बार एक राह-चलते दर्दमन्द ने एक दूकानदार से पूछा—"यह कौन है?"

दूकानदार ने जवाब दिया—"मुसीबतजदा है, जनाब। अमृतसर में रहता था। काफिरों ने सब-कुछ लूटकर इसके बीबी-बच्चों को आग में फूँक दिया।"

"जिन्दा?"—राहगीर के मुँह से अचानक निकल गया।

दूकानदार हँसा—"जनाब किस दुनिया में रहते हैं? वह दिन बीत गए जब आग काफिरों के मुरदों को जलाती थी। अब तो वह जिन्दों को जलाती है।"

राहगीर ने तब कड़वी भाषा में काफिरों को वह सुनाई कि दूकानदार ने खुश होकर उसे बैठ जाने के लिए कहा। उसे जाने की जल्दी थी, फिर भी जरा-सा बैठकर उसने कहा—"कोई बड़ा आदमी जान पड़ता है।"

"जी हाँ! वकील था, हाईकोर्ट का बड़ा वकील। लाखों रुपयों की जायदाद छोड़ आया है।"

"अच्छा जी!"

"जनाब! क्या पूछते हैं? आदमी आसानी से पागल नहीं होता। दिल पर चोट लगती है तभी वह टूटता है। पर जब एक बार टूट जाता है तो फिर नहीं जुड़ता। आजकल चारों तरफ यही कहानी है। मेरा

घर का मकान नहीं था, लेकिन दूकान में सामान इतना था कि तीन मकान बन सकते थे।"

"जी हाँ"—राहगीर ने सदय होकर कहा—"आप ठीक कहते हैं। पर आपके बाल-बच्चे तो ठीक आ गए हैं?"

"जी हाँ! खुदा का फजल है। मैंने उन्हें पहले ही भेज दिया था। जो पीछे रह गए थे उनकी न पूछिए। रोना आता है। खुदा गारत करे हिन्दुस्तान को........।"

राहगीर उठा। उसने बात काटकर इतना ही कहा—"देख लेना एक दिन वह गारत होकर रहेगा। खुदा के घर में देर है पर अन्धेर नहीं।"

और वह चला गया, परन्तु उस अर्द्ध-विक्षिप्त के क्रम में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वह उसी तरह धीरे-धीरे बाजारों में से गुजरता, शरणार्थियों की भीड़ में धक्के खाता, परन्तु उस ओर देखता नहीं। उसकी दृष्टि तो आस-पास की दूकानों और मकानों पर जा अटकती थी। अटकती ही नहीं, चिपक जाती थी। मिकनातीस लोहे को खींच लेती है; वैसे ही वे बेजबाँ इमारतें, जो जगह-जगह पर खण्डहर की शक्ल में पलट चुकी थीं, उसकी नज़र और नज़र के साथ उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सभी को अपनी ओर खींच लेती थीं और फिर उसे जो कुछ याद आता, वह उसे, पैर के तलुए से होकर सिर में निकल जाने वाली सूली की तरह काटता हुआ, उसके दिल के कोने में जा बैठता था। इसी कारण वह आज तक मर नहीं सका था, केवल सिसकियाँ भरता रहता था—वे सिसकियाँ जिनमें न शब्द थे न आँसू। वे सूखी हिचकियों की तरह उसे बे-जान किये हुए थीं।

सहसा उसने देखा—सामने उसका अपना मकान आ गया है। उसके अपने दादा ने उसे बनाया था। उसके ऊपर के कमरे में उसके पिता का जन्म हुआ था। उसी कमरे में उसने आँखें खोली थीं और उसी कमरे में उसके बच्चों ने पहली बार प्रकाश-किरण का स्पर्श पाया था। उस

मकान के कण-कण में उसके जीवन का इतिहास अङ्कित था। उसे फिर बहुत-सी कहानियाँ याद आने लगीं। वह तब उन कहानियों में इतना डूब गया था कि उसे परिस्थिति का तनिक भी ध्यान नहीं रहा। वह जीने पर चढ़ने के लिए आगे बढ़ा और जैसा कि वह सदा करता था उसने घण्टी पर हाथ डाला। बे-जान घण्टी शोर मचाने लगी और तभी उसकी नींद टूट गई। उसने अपने चारों ओर देखा। वहाँ सब एक ही तरह के आदमी नहीं थे। वे सब एक ही जबान नहीं बोलते थे। फिर भी उनमें ऐसा कुछ था जो उन्हें एक कर रहा था और वह इस एके में अपने लिए कोई जगह नहीं पाता था। उसने तेजी से आगे बढ़ जाना चाहा, पर तभी ऊपर से एक व्यक्ति उतर आया। उसने ढीला पाजामा और कुरता पहना था, पूछा—"कहिए जनाब ?"

वह अकचकाया—"जी !"

"जनाब किसे पूछते थे ?"

"जी, मैं पूछता था कि मकान खाली है ?"

ढीले पाजामा वाले व्यक्ति ने उसे ऐसे देखा कि जैसे वह कोई चोर या उठाईगीरा हो। फिर मुँह बनाकर तसल्ली से जवाब दिया—"जनाब ! तशरीफ़ ले जाइए वरना,......." आगे उसने क्या कहा वह यह सुनने के लिए नहीं रुका, बढ़ा चला गया। उसकी गति में तूफान भर उठा, उसके मस्तिष्क में बवंडर उठ खड़ा हुआ और उसका चिन्तन गति की चट्टान पर टकराकर पाश-पाश हो गया। उसे जब होश आया तो वह अनारकली से लेकर माल तक का समूचा बाजार लाँघ चुका था। वह बहुत दूर निकल गया था। यहाँ आकर वह काँपा। एक टीस ने उसे कुरेद डाला जैसे बढ़ई ने पेच में पेचकश डालकर पूरी शक्ति के साथ उसे घुमाना शुरु कर दिया हो। हाईकोर्ट की शानदार इमारत उसके सामने थी। वह दृष्टि गड़ाकर उसके कंगूरों को देखने लगा। उसने बरामदे की कल्पना की। उसे याद आया—वह कहाँ बैठता था, वह कौनसे कपड़े पहनता था कि उसका हाथ सिर पर गया, जैसे उसने साँप को छुआ। उसने उसी क्षण हाथ खींच

लिया, पर मोहक स्वप्नों ने उसकी रंगीन दुनिया की रंगीनी को उसी तरह बनाये रखा। वह तब इस दुनिया में इतना डूब चुका था कि बाहर की जो वास्तविक दुनिया है वह उसके लिए मृगतृष्णा बन गई थी। उसने अपने पैरों के नीचे की धरती को ध्यान से देखा, देखता रहा। सिनेमा की तस्वीरों की तरह अतीत की एक दुनिया, एक शानदार दुनिया उसके अन्तस्तल पर उतर आई। वह इसी धरती पर चला करता था। उसके आगे-पीछे उसे नमस्कार करते, सलाम झुकाते, बहुत-से आदमी आते और जाते थे। दूसरे वकील हाथ मिलाकर शिष्टाचार प्रदर्शित करते और.....

विचारों के हनुमान ने समुद्र पार करने के लिए छलाँग लगाई—उसका ध्यान जज के कमरे में जा पहुँचा। जब वह अपने केस में बहस शुरु करता था तो कमरे में सन्नाटा छा जाता था। केवल उसकी वाणी की प्रतिध्वनि गूँजा करती थी, केवल 'मी लार्ड' शब्द बार-बार उठता और 'मी लार्ड' कलम रखकर उसकी बात सुनते...............

हनुमान फिर कूदे और वह अब बार-एसोसिएशन के कमरे में आ गया था। इसमें न जाने कितने कहकहे उसने लगाए थे, कितनी बार राजनीति पर उत्तेजित कर देने वाली बहसें की थीं, वहीं बैठकर उसने महापुरुषों को अनेक बार श्रद्धांजलियाँ भेंट की थीं और बिदा और स्वागत के खेल खेले थे।

वह अब उस कुर्सी के बारे में सोचने लगा जिस पर वह बैठा करता था। तब उसे कमरे की दीवारों के साथ-साथ दरवाजे के पायदान की याद भी आ गई और वह पायदान को देखने के लिए आतुर हो उठा। वह सब-कुछ भूलकर सदा की तरह झूमता हुआ आगे बढ़ा, पर तभी जैसे किसी ने उसे कचोट लिया। उसने देखा कि लॉन की हरी घास मिट्टी में समा गई है। रास्ते बन्द हैं, केवल डरावनी आँखों वाले सैनिक मशीन-गन सँभाले, हैल्मैट पहने तैयार खड़े हैं कि कोई आगे बढ़े और वे शूट कर दें। उसने हरी वर्दी वाले होमगार्डों को भी देखा और देखा कि राइफल थामे पठान लोग जब मन में उठता है फायर कर देते हैं। वे मानो छड़ी के स्थान पर राइफल का प्रयोग करते हैं और उनके लिए

जीवन की पवित्रता बन्दूक की गोली की सफलता पर निर्भर करती है। उसे स्वयं जीवन की पवित्रता से अधिक मोह नहीं था। वह खंडहरों के लिए आँसू भी नहीं बहाता था। उसने अग्नि की प्रज्वलित लपटों को अपनी आँखों से उठते देखा था। उसे तब पाण्डव-वन की याद आ गई थी, जिसकी नींव पर इन्द्रप्रस्थ-सरीखे वैभवशाली और कलामय नगर का निर्माण हुआ था। तो क्या इस महानाश की नींव पर भी किसी गौरव-गरिमामय कलाकृति का निर्माण होगा? इन्द्रप्रस्थ की उस कला के कारण महाभारत सम्भव हुआ, जिसने इस अभागे देश के मदोन्मत्त किन्तु जर्जरित शौर्य को सदा के लिए समाप्त कर दिया। क्या आज फिर वही कहानी दोहराई जाने वाली है?

एक दिन उसने अपने बड़े बेटे से कहा था—"जिन्दगी न जाने क्या-क्या खेल खेलती है। वह तो बहुरुपिया है, पर दूसरी दुनिया बनाते हमें देर नहीं लगती। परमात्मा ने मिट्टी इसलिए बनाई है कि हम उसमें से सोना पैदा करें।"

बेटा बाप का सच्चा उत्तराधिकारी था। उसने परिवार को एक छोटे-से कस्बे में छोड़ा और आप आगे बढ़ गया। वह अपनी उजड़ी हुई दुनिया को फिर से बसा लेना चाहता था, पर तभी अचानक छोटे भाई का तार मिला। लिखा था—"पिताजी न जाने कहाँ चले गए।"

तार पढ़कर बड़ा भाई अचरज से काँप उठा। वह घर लौटा और पिता की खोज करने लगा। उसने मित्रों को लिखा, रेडियो पर समाचार भेजे, अखबारों में विज्ञापन निकलवाए। सब-कुछ किया, पर वह यह नहीं समझ सका कि आखिर वे कहाँ गये और क्यों गए? वह इसी उधेड़-बुन में था कि एक दिन सबेरे-सबेरे देखा—वे चले आ रहे हैं, शान्त, निर्द्वन्द्व और निर्मुक्त।

"आप कहाँ चले गए थे?" प्रथम भावोद्रेक समाप्त होने पर पुत्र ने पूछा।

शान्त मन से पिता ने उत्तर दिया—"लाहौर।"

"लाहौर !" —पुत्र हठात् काँप उठा—"आप लाहौर गये थे ?"

"हाँ।"

"कैसे ?"

पिता बोले—"रेल में बैठकर गया था, रेल में बैठकर आया हूँ।"

"पर आप वहाँ क्यों गये थे ?"

"क्यों गया था !" —जैसे उसकी नींद टूटी। उसने अपने आपको सँभालते हुए कहा—"वैसे ही, देखने के लिए चला गया था।"

और आगे की बहस से बचने के लिए वह उठकर चला गया। उसके बाद उसने इस बारे में किसी भी प्रश्न का जवाब देने से इन्कार कर दिया। उसके पुत्रों ने पिता के इस परिवर्तन को देखा, पर न तो वे उन्हें समझा सकते थे, न उन पर क्रोध कर सकते थे; क्योंकि वे दुनिया के दूसरे काम सदा की भाँति करते रहते थे। हाँ, पंजाब की बात चलती तो आह भरकर कह देते थे—"गया पंजाब ! पंजाब अब कहाँ है ?" पुत्र फिर काम पर लौट गए और वे भी घर की व्यवस्था करने लगे। इसी बीच में वे एक दिन फिर लाहौर चले गए, परन्तु इससे पहले कि उनके पुत्र इस बात को जान सकें, वे लौट भी आए। पत्नी ने पूछा—"आखिर क्या बात है ?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ नहीं कैसे ? आखिर आप वहाँ क्यों जाते हैं ?"

तब कई क्षण चुप रहने के बाद उन्होंने धीरे-से कहा—"क्यों जाता हूँ, क्योंकि वह मेरा वतन है। मैं वहाँ पैदा हुआ हूँ। वहाँ की मिट्टी में मेरी जिन्दगी का राज छिपा है। वहाँ की हवा में मेरे जीवन की कहानी लिखी हुई है।"

पत्नी की आँखें भर आईं, बोली—"पर अब क्या, अब तो सब-कुछ गया।"

"हाँ, सब-कुछ गया।" उन्होंने कहा—"मैं जानता हूँ अब कुछ नहीं हो सकता, पर न जाने क्या होता है, उसकी याद आते ही मैं अपने आपको

भूल जाता हूँ और मेरा वतन मिकनातीस की तरह मुझे अपनी ओर खींच लेता है।" उनकी आँखें भर आईं।

करुण स्वर में पत्नी ने कहा—"नहीं, नहीं आपको अपने मन को सँभालना चाहिए। जो-कुछ चला गया उसका दुःख तो जिन्दगी-भर सालता रहेगा। भाग्य में यही लिखा था, पर अब जान-बूझकर आग में कूदने से क्या लाभ?"

"हाँ, अब तो जो-कुछ बचा है उसी को सहेजकर गाड़ी खींचनी ठीक है।"—उसने पत्नी से कहा और फिर जी-जान से नये कार्य-क्षेत्र में जुट गया। उसने फिर वकालत का चोगा पहन लिया। उसका नाम फिर बार-एसोसिएशन में गूँजने लगा। उसने अपनी जिन्दगी को भूलने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। और शीघ्र ही वह अपने काम में इतना डूब गया कि देखने वाले दाँतों के तले उँगली दबाकर कहने लगे—"इन लोगों में कितना जीवट है। सहस्रों वर्षों में अनेक पीढ़ियों ने अपने को खपाकर जिस दुनिया का निर्माण किया था वह क्षण-भर में राख का ढेर हो गई, तो बिना आँसू बहाए उसी तरह की दुनिया, ये लोग क्षणों में ही बना देना चाहते हैं।"

उनका अचरज ठीक था। तम्बुओं और कैम्पों के आस-पास, सड़कों के किनारे, राह से दूर भूत-प्रेतों के चिर परिचित अड्डों में, उजड़े गाँवों में, खोले और खादर में, जहाँ भी मनुष्य की शक्ति कुण्ठित हो चुकी थी, वहीं ये लोग पहुँच जाते थे। और पादरी के नास्तिक मित्र की तरह नरक को स्वर्ग में बदल देते थे। उन लोगों ने जैसे कसम खाई थी कि धरती असीम है, शक्ति असीम है, फिर निराशा कहाँ रह सकती है?

ठीक उसी समय जब उसका बड़ा पुत्र अपनी नई दूकान का मुहूर्त करने वाला था उसे एक बार फिर छोटे भाई का तार मिला—"पिताजी पाँच दिन से ला-पता हैं।" पढ़कर वह क्रुद्ध हो उठा और तार के टुकड़े-टुकड़े करके उसने दूर फेंक दिए। और चिनचिनाया—"वे नहीं मानते तो उन्हें अपने किये का फल भोगना चाहिए। वे अवश्य लाहौर गये हैं।" उसका अनुमान सच था। जिस समय वे इस प्रकार चिन्तित हो रहे थे उसी समय लाहौर के एक दूकानदार ने एक अर्द्ध-विक्षिप्त व्यक्ति को,

जो तहमद लगाए, फैज कैप ओढ़े, फटी-फटी आँखों से चारों ओर देखता हुआ घूम रहा था, पुकारा—"शेख साहब ! सुनिए तो। बहुत दिन में दिखाई दिए, कहाँ चले गए थे ?"

उस अर्द्ध-विक्षिप्त पुरुष ने थकी हुई आवाज में जवाब दिया—"मैं अमृतसर चला गया था।"

"क्या ?"—दूकानदार ने आँखें फाड़कर कहा—"अमृतसर !"

"हाँ, अमृतसर गया था। अमृतसर मेरा वतन है।"

दूकानदार की आँखें क्रोध से चमक उठीं, बोला—"मैं जानता हूँ। अमृतसर में साढ़े तीन लाख मुसलमान रहते थे पर आज एक भी नहीं है।"

"हाँ", उसने कहा—"वहाँ आज एक भी मुसलमान नहीं है।"

"काफिरों ने सबको भगा दिया, पर हमने भी कसर नहीं छोड़ी। आज लाहौर में एक भी हिन्दू या सिख नहीं है और कभी होगा भी नहीं।"

वह हँसा, उसकी आँखें चमकने लगीं। उनमें एक ऐसा रंग भर उठा जो बे-रंग था और वह हँसता चला गया, हँसता चला गया—"वतन, धरती, मोहब्बत, सब कितनी छोटी-छोटी बातें हैं?—सबसे बड़ा मजहब है, दीन है, खुदा का दीन। जिस धरती पर खुदा का बन्दा रहता है, जिस धरती पर खुदा का नाम लिया जाता है, वह मेरा वतन है, वही मेरी धरती है और वही मेरी मोहब्बत है।"

दूकानदार ने धीरे-से अपने दूसरे साथी से कहा—"आदमी जब होश खो बैठता है, तो कितनी सच्ची बात कहता है !"

साथी ने जवाब दिया—"जनाब ! तब उसकी जबान से खुदा बोलता है।"

"बेशक।"—उसने कहा और मुड़कर उस अर्द्ध-विक्षिप्त से बोला—"शेख साहब ! आपको घर मिला ?"

"सब मेरे ही घर हैं।"

दूकानदार मुस्कराया—"लेकिन शेख साहब ! जरा बैठिए तो, अमृतसर में किसी ने आपको पहचाना नहीं।"

वह ठहाका मारकर हँसा—"तीन महीने जेल में रहकर लौटा हूँ।"

"सच ?"

"हाँ, हाँ।"—उसने आँखें मटकाकर कहा।

"तुम जीवट के आदमी हो।"

और तब दूकानदार ने खुश होकर उसे रोटी और कवाब मँगाकर दिया। लापरवाही से उन्हें पल्ले में बाँधकर और एक टुकड़े को चबाता हुआ वह आगे बढ़ गया।

दूकानदार ने कहा—"अजीब आदमी है। किसी दिन लखपति था, आज फाकामस्त है।"

"खुदा अपने बन्दों का खूब इम्तहान लेता है।"

"जन्नत ऐसे को ही मिलता है।"

"जी हाँ। हिम्मत भी खूब है। जान-बूझकर आग में जा कूदा।"

"वतन की याद ऐसी ही होती है", उसके साथी ने, जो दिल्ली का रहनेवाला था कहा, "अब भी जब मुझे दिल्ली की याद आती है तब दिल भर आता है।"

और वह आगे बढ़ रहा था। माल पर भीड़ बढ़ रही थी। कारें भी कम नहीं थीं और अंग्रेज, एंग्लो-इंडियन तथा ईसाई नारियाँ पूर्ववत् बाज़ार कर रही थीं। फिर भी उसे लगा कि वह माल जो उसने देखी थी यह नहीं है। शरीर कुछ वैसा ही था, पर उसकी आत्मा झुलस रही है। लेकिन यह भी उसकी दृष्टि का दोष था। कम-से-कम वे जो वहाँ घूम रहे थे उनका ध्यान आत्मा की ओर नहीं था।

एकाएक वह पीछे मुड़ा। उसे रास्ता पूछने की जरूरत नहीं थी। बैल की तरह उसके पैर डगर को पहचानते थे। आँखें इधर-उधर देख रही थीं। पैर अपने रास्ते पर बिना डगमगाए बढ़ रहे थे। और विश्व-विद्यालय की आलीशान इमारत एक बार फिर सामने आ रही थी। उसने नुमायश की ओर एक दृष्टि डाली, फिर बुलनर के बुत की तरफ़ से होकर वह अन्दर चला गया। उसे किसी ने नहीं रोका और वह लॉ कॉलेज के

सामने निकल आया। उस समय उसका दिल एक गहरी हूक से टीसने लगा था। कभी वह इस कॉलेज में पढ़ा करता था.........................
वह काँपा, उसे याद आया, उसने इस कॉलेज में पढ़ाया भी है..................
वह फिर काँपा। हूक फिर उठी। उसकी आँखें भर आईं। उसने मुँह फिरा लिया। उसके सामने वह रास्ता था जो उसे दयानन्द कॉलेज ले जा सकता था। एक दिन पंजाब-विश्वविद्यालय, दयानन्द-विश्वविद्यालय कहलाता था..............।

तब एक भीड़ उसके पास से निकल गई। वे प्रायः सभी शरणार्थी थे—बे-घर और बे-जर, लेकिन उन्हें देखकर उसका दिल पिघला नहीं, कड़वा हो उठा। उसने चिल्लाकर उन्हें गालियाँ देनी चाहीं। तभी पास से जानेवाले दो व्यक्ति उसे देखकर ठिठक गए। एक ने रुककर उसे ध्यान से देखा, दृष्टि मिली, वह सिहर उठा। सर्दी गहरी हो रही थी और कपड़े कम थे। वह तेजी से आगे बढ़ा। वह जल्दी-से-जल्दी कॉलेज-कैम्प में पहुँच जाना चाहता था। उन दो व्यक्तियों में से एक ने, जिसने उसे पहचाना था, दूसरे से कहा—"मैं इसको जानता हूँ।"

"कौन है?"

"हिन्दू।"

साथी अकचकाया—"हिन्दू?"

"हाँ, हिन्दू! लाहौर का एक मशहूर वकील......." और कहते-कहते उसने ओवरकोट की जेब में से पिस्तौल निकाल ली। वह आगे बढ़ा, उसने कहा—"जरूर यह मुखबिरी करने आया है।"

उसके बाद गोली चली। एक हलचल, एक खटपट-सी मची। देखा एक व्यक्ति चलता-चलता लड़खड़ाया और गिर पड़ा। पुलिस ने उसे देखकर भी अनदेखा कर दिया, परन्तु जो अनेक व्यक्ति उस पर झुक गए थे उनमें से एक ने उसे पहचाना और काँपकर पुकारा—"मिस्टर पुरी! तुम! तुम यहाँ, ऐसे...........!"

मिस्टर पुरी ने आँखें खोलीं, उनका मुख श्वेत हो गया था और उस

पर मौत की छाया पड़ रही थी। उन्होंने पुकारने वाले को देखा और धीरे से कहा—"हसन...........हसन.............!"

आँखें फिर मिच गईं। हसन ने चिल्लाकर सैनिक से कहा—"जल्दी करो! टैक्सी लाओ। मेयो अस्पताल चलना है। अभी..............!"

भीड़ बढ़ती आ रही थी। फौज, पुलिस और होमगार्ड, सबने उसे घेर लिया। हसन जो उसका साथी था, जिसके साथ वह पढ़ा था, जिसके साथ उसने साथी और प्रतिद्वन्द्वी बनकर अनेक मुकदमे लड़े थे, वह अब उसे अचरज से देख रहा था। उसने एक बार झुककर कहा—"तुम यहाँ इस तरह क्यों आये, मिस्टर पुरी?"

मिस्टर पुरी ने एक बार फिर आँखें खोलीं। वे धीमे स्वर में फुसफुसाये—"मैं यहाँ क्यों आया? मैं यहाँ से जा ही कहाँ सकता हूँ? यह मेरा वतन है, हसन! मेरा वतन............!"

अभ्यासार्थ प्रश्न

१। सिद्ध कीजिये कि हृदय के सम्बन्ध एवम् स्मृति के बंधन सदा अकाटच बने रहते हैं।

२। 'मेरा वतन' कहानी को आप अपने शब्दों में लिखिये।

३। 'मेरा वतन' और 'एक गौ' की तुलना कीजिये।